प्रकाशक ●
सर्वोदय प्रकाशन मंदिर
अलवर

प्रथम संस्करण १०००
मूल्य २।)

● मुद्रक
सर्वोदय प्रेस
अलवर

विषय-सूची

आमुख पृष्ठ

१. तत्व और दर्शन

(१) ईश्वर मेरी धारणा में .... १—६
(२) सच्चा आस्तिक कौन ? .... ७—११
(३) जीवन में 'साधन' और 'साध्य' .... १२—१८
(४) 'स्वेच्छा' और 'अनिवार्यता' .... १९—२२

२. 'शिक्षा' और 'साहित्य'

(१) शिक्षा का आदर्श .... २५—३०
(२) शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त .... ३१—४३
(३) शिक्षा सम्बन्धी कुछ प्रश्न .... ४४—५२
(४) वर्धा शिक्षा-प्रणाली .... ५३—६३

३. 'अर्थ' और 'राजनीति'

(१) अर्थ रचना और सामाजिक हित .... ६७—७९
(२) भावी अर्थ-रचना के आधार का प्रश्न .... ८०—९१
(३) भावी समाज-निर्माण की समस्या .... ९२—९५
(४) आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न .... ९६—११४
(५) स्वतन्त्र भारत में खादी का महत्व .... ११५—११८
(६) अहिंसा और जन-आन्दोलन .... ११९—१२४

४. विविध प्रश्न

(१) भारतवर्ष में सहकारी भूमि-बन्धक बैंक .... १२५—१३४
(२) औद्योगिक पूंजी की व्यवस्था की समस्या .... १३५—१४५
(३) भारतीय राजनीति की प्रमुख शक्तियां .... १४६—१५४
(४) गांधीवाद और समाजवाद .... १५५—१६६
(५) जनतन्त्र-जीवन का एक संस्कृत मार्ग .... १६७—१७६

'विविध-प्रश्न' में मेरी दृष्टि

[आमुख]

इस पुस्तक में मेरे कुछ निबन्धों का संकलन है। ये निबन्ध तत्त्व-दर्शन, शिक्षा, अर्थनीति तथा राजनीति सम्बन्धी विषयों पर पिछले १५ वर्षों में लिखे गये हैं। विषयों की विभिन्नता और समय के विस्तार का यदि ध्यान किया जाय तो इसमें एकरूपता का अभाव सर्वथा स्वाभाविक मालूम पड़ेगा। इसी आधार पर पुस्तक का नाम भी 'विविध-प्रश्न' रखना ही उचित समझा गया; परंतु यदि इन निबन्धों को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय तो उनकी प्रकट विभिन्नता में भी दृष्टिकोण और विचारधारा की एक छिपी समानता मिलेगी। जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण और मेरी सामाजिक विचारधारा इन निबन्धों में व्यक्त हुई है और 'विविध प्रश्न' में एक-सूत्रता स्थापित कर सकने में वे समर्थ हुई हैं। यही इन विभिन्न विषय-सम्बन्धी निबन्धों को एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का औचित्य माना जा सकता है।

जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण और मेरी सामाजिक विचारधारा के सम्बन्ध में कुछ लिखना अनुचित न होगा।

आज विज्ञान का युग है। आज का मनुष्य प्रत्येक प्रश्नों को वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहता है। इसी आधार पर हम प्रगति और प्रगतिहीनता, उन्नति और अवनति, सभ्यता और असभ्यता, तथा विकसित और अविकसित के बीच में रेखा खींचते हैं। यह वैज्ञानिक दृष्टि क्या है? आज के विज्ञान की विशिष्टता यह मानी जाती है कि उसने मनुष्य को इस रहस्यमयी प्रकृति को -जिसका वह स्वयम् भी अविच्छेद्य अंग है समझने की दृष्टि और इसका रहस्योद्घाटन करने की शक्ति दी है। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि आधुनिक विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। अब प्रकृति उसके लिए एक खुली पुस्तक है जिसको बहुत कुछ उसने समझ लिया है और जो बाकी है उसे भी वह समझ लेगा ऐसा उसका विश्वास है। इतना ही नहीं, अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए प्रकृति का उपयोग करने की एक अद्भुत क्षमता आज

उसने प्राप्त कर ली है और उत्तरोत्तर प्राप्त करता जा रहा है। विज्ञान से मिली हुई इस शक्ति के कारण आज का मनुष्य अपना और अपने समाज का स्वतन्त्र निर्माता माना जाता है। उसकी इच्छा एक स्वतन्त्र इच्छा है। इस दृष्टि-कोण में 'भाग्यवाद' या पूर्व निश्चयवाद को कोई स्थान नहीं। इसका आधार तो मनुष्य की क्रियाशीलता तथा गतिशीलता है। यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है और यह एक तात्विक प्रश्न है। मनुष्य की इस गतिशीलता और क्रियाशीलता का रहस्य, उसका उद्गम उसका स्रोत कहाँ है? एक मत की मान्यता है कि मनुष्य की इस स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का आदि-स्रोत, उसका उद्गम और उसका रहस्य एक दूसरी इच्छा शक्ति में है जो सर्व व्यापी सर्व शक्तिमान् और सार्वभौम है। वहीं स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा है और गतिशीलता का चरम बिन्दु। और चूंकि वह स्थिति पराकाष्ठा की स्थिति है इसलिए वह अभेद की स्थिति भी है। भेद तो अपूर्णता का लक्षण है और अभेद पूर्णता का। पूर्णता का ही दूसरा नाम पराकाष्ठा है। अस्तु, वह स्थिति स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा की है तो परतन्त्रता की भी, गति-शीलता की है तो गति-शून्यता की भी। यदि सर्व व्यापी और सर्व शक्तिमान तथा सार्वभौम होना उसका लक्षण है तो वह सर्वथा अशक्त और सर्वत्र अविद्यमान भी है। उसकी अशक्तता अपनी स्वयं की पैदा की हुई है; अपने बन्धनों और नियमों से अपने आपको बांध रखा है और यहीं उसकी अशक्तता की वह विलक्षणता है जो उसे सर्व शक्तिमान बनाती है। प्राणिमात्र को स्वतन्त्र इच्छा और स्वतन्त्र अस्तित्व दे कर ही उसने अपने आपको सर्वत्र अविद्यमान बना रखा है। यही उसकी सर्वत्र अविद्यमान होने की वह विलक्षणता है जो उसे सर्व व्यापी बनाती है। सब प्रकार के द्वन्द्व से परे जो वह है वही मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का स्रोत है। यह एक विचारधारा है परन्तु एक दूसरी विचारधारा भी है जो इस दृष्टिकोण में मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति की सर्वथा अवहेलना उसके अस्तित्व की अमान्यता देखता है।

जब मनुष्य ने विज्ञान की सहायता से इस तथा-कथित रहस्यमयी प्रकृति के अन्तर को भेद लिया और प्रकृति उसके लिए आज एक खुली पुस्तक है तो

फिर उसकी स्वतन्त्रता को किसी दूसरी रहस्यमयी अलौकिक शक्ति से मर्यादित करने का कारण ? जिसकी दृष्टि अतीत को चीर कर अतीत से वर्तमान तक की गति के भेद और नियम को देख सकी और वर्तमान से भविष्य की दिशा का निर्धारण कर सकती है और जो प्रकृति के तथ्यों और घटनाओं के तर्क को बुद्धि-गम्य बना सकती है; उसको अन्य किसी आधार या स्तम्भ की आवश्यकता क्यों ? इसी स्वनिर्मित, स्वविकसित और अन्योन्याश्रित संघात को चाहे 'पुरुष' कह दीजिये और चाहे 'प्रकृति', चाहे 'मायावी' कह दीजिये और चाहे 'माया', पर वास्तव में तो वह सब एक ही है. निरन्तर गतिवान, प्रगतिवान्, विकासमान— और इस गति, प्रगति और विकास का एक क्रम है, एक शृंखला है, जिसकी दिशा निश्चित है पर जिसकी गति (स्पीड) निश्चित नहीं है—और गति निश्चित नहीं है, का यह अर्थ है कि उसका घटना निश्चित नहीं है। इस सीमा तक इसमें भाग्यवाद और पूर्व निश्चयवाद को कोई स्थान नहीं। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति की इसमें अक्षुण्णता है। उसकी क्षमता इस सबकी गति-प्रगति के लिए बड़े हद तक जिम्मेदार है। इस दृष्टि में रहस्यमयी, अलौकिक शक्ति की सर्वथा अवज्ञा है—विज्ञान के नाम पर और मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा के नाम पर। जीवन की दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली यह एक तात्विक मतभेद की; एक द्वन्द्व की स्थिति है।

प्रश्न यह है कि इस द्वन्द्व में मेरा, जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण का स्थान कहां है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर देना मेरे लिए असम्भव है—वह एक अनधिकार चेष्टा होगी। मैं कैसे कह दूं कि ईश्वर है या नहीं। मेरा तर्क तो, मुझे तो यह लगता है कि मानवीय तर्क भी, यह कहता है कि यह तो उस विज्ञान और तर्क का प्रश्न नहीं है जो पानी का विश्लेषण करके यह बताता है कि उसमें अमुक अमुक तत्वों का संघात है और जिसने आइन्सटाइन को स्थान और काल की सापेक्षिकता सिद्ध करने में सहायता दी। इतिहास भी यह कहता है कि यह विवाद तो आज तक चला आ रहा है। फिर आगे क्यों न चलें ? अगर यह कहा जाय कि विज्ञान की खोजों के पश्चात् अब कौनसा रहस्य रह गया जो ईश्वर को एक अलौकिक शक्ति के रूप में, इस जगत के नियंता के रूप में मानने को

विवश करता है ? मेरा उत्तर तो न यह है कि ईश्वर है, और न यह है कि ईश्वर नहीं है। मेरा एक उत्तर तो यह है कि प्रकृति पर विज्ञान की विजय ने ईश्वर के अस्तित्व को मानने का आधार नष्ट कर दिया यह तर्क-संगत नहीं। विज्ञान की दिशा क्या है ? मानव समाज और प्रकृति में होने वाली घटनाओं के कारण-परिणाम के सम्बन्ध को खोल कर रखना विज्ञान का काम है। विज्ञान आपको इसका उत्तर दे सकता है कि यह सारी सृष्टि कैसे चलती है और आज तक कैसे चली आई है। विज्ञान का क्षेत्र तो कारण और परिणामों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझना समझाना है। परन्तु यह प्रश्न तो फिर भी रह ही जाता है कि आदिकारण क्यों ? यह सृष्टि क्यों ? इस सारी सृष्टि-रचना के पीछे क्या उद्देश्य है और क्या लक्ष्य है, इसका उत्तर देना विज्ञान का काम नहीं है। यह उसके क्षेत्र के बाहर की बात है। इसका अर्थ यह है कि विज्ञान की आज जो प्रगति हो चुकी है और आगे जो भी प्रगति हो उससे इस समस्या का, इस लक्ष्य का हल नहीं होगा ? इस समस्या का हल जिस दिशा में है वह दिशा विज्ञान की नहीं है। अस्तु, ईश्वर हो या न हो पर समझने की बात यह है कि इस ईश्वर समस्या का निराकरण विज्ञान के क्षेत्र के बाहर है। तो फिर जहां तक ईश्वर के सम्बन्ध में मान्यता का सवाल है इसका उत्तर व्यक्ति को अपनी अपनी भावना, श्रद्धा और आन्तरिक अनुभूति के आधार पर देना होगा। यदि ईश्वर सम्बन्धी यह विवाद यों का यों बना रहता है तो फिर दूसरा प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या जहां तक जीवन और समाज का प्रश्न है इस विवाद का उत्तर दिये बिना ही हम आगे बढ़ सकते हैं। जीवन और समाज के क्षेत्र में हमारा व्यवहार इस विवाद से मुक्त रह सकता है या नहीं।

मेरा ऐसा विचार है, और यह मेरी सामाजिक विचारधारा का मूलभूत आधार है कि व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन के क्षेत्र में मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है, वह स्वतन्त्र इच्छावान् है, इस विचारधारा को मान कर हम चल सकते हैं, ईश्वर के सम्बन्ध में हमारा जो कुछ भी दृष्टिकोण हो। यदि आपको ईश्वर की सत्ता में श्रद्धा है तब भी उसका फलितार्थ यह नहीं है कि आपकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा नहीं है, और आप अपने भाग्य के निर्माता नहीं

है। ईश्वर की सत्ता आपकी सत्ता को खण्डित नहीं करती। हां, वह आपकी सत्ता की परिधि, उसका कार्यक्षेत्र अवश्य निश्चित करती है। ईश्वर सर्व शक्तिमान् होते हुए भी, और उसकी इच्छा सार्वभौम होते हुए भी, वह अपने स्वनिर्मित नियमों से बँधा हुआ है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखने वाले मनुष्य इन ईश्वरीय नियमों की परिधि में स्वतन्त्र इच्छा वाला और अपने समाज का निर्माता है। यदि आपको ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं है तब तो आपके सामने आपकी इच्छा के मर्यादित होने का इस आधार पर तो प्रश्न है ही नहीं। यद्यपि एक दूसरी मर्यादा आपकी और आपके समाज की परिस्थितियां और वातावरण के रूप में आपकी इच्छा-शक्ति को, उसकी परिधि और उसके कार्यक्षेत्र निश्चित करने के अर्थ में अवश्य ही मर्यादित करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर सम्बन्धी हमारी भिन्न भिन्न मान्यतायें सामाजिक जीवन के व्यवहार में हमें सहयोग करने से नहीं रोक सकती ! न ईश्वर में हमारी श्रद्धा हमें इस अर्थ में भाग्यवादी ही बनाती है कि हम कर्म प्रवृत्त न हों।

हमारी सामाजिक विचारधारा का मूलभूत स्तंभ यह निश्चित हो जाता है कि मनुष्य स्वयं अपने समाज का निर्माता है (अमुक परिधि और क्षेत्र की मर्यादा में) तो फिर दूसरा प्रश्न हमारे सामने यह उपस्थित होता है कि हमारी सामाजिक प्रगति की दिशा क्या है ? मेरा यह विचार है कि समाज की प्रगति की दिशा एक न हो करके दो हैं। एक का सम्बन्ध विस्तार से है और दूसरे का सम्बन्ध उत्थान से है। दूसरे शब्दों में हमारी प्रगति की एक दिशा क्षेत्र विस्तार की है और दूसरी दिशा स्तर के उत्तरोत्तर ऊँचे उठने की है। एक का दूसरे से आत्मिक सम्बन्ध है। जितना स्तर ऊँचा होगा उतना ही क्षेत्र का विस्तार आसानी से होगा और जितना क्षेत्र का विस्तार होगा उसी हद तक स्तर का विकास होने में सहायता मिलेगी। क्षेत्र विस्तार और स्तर के विकास से मेरा क्या अर्थ है यह अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यह प्रश्न एक अर्थ में साधन और साध्य का बनजाता है। कैसे ? आज जितनी भी प्रगतिशील सामाजिक विचार धाराएं हैं उनको प्रेरणा देने वाली एक भावना यह है कि संसार में आज जो शोषण देखने को मिलता है वह न रहे। प्रत्येक व्यक्ति को

अपने व्यक्तित्व के विकास करने का पूरा पूरा अवसर मिले। उसे आर्थिक सुरक्षा प्राप्त हो, आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से उसे स्वतन्त्रता प्राप्त हो और उच्चतम मानवीय प्रवृत्तियों के लिए उसे अवकाश हो। आज समाज का अधिकांश भाग इन सुविधाओं से वंचित है। उसे यह सुविधा प्राप्त हो यह प्रगतिशील विचार धाराओं का लक्ष्य है। यह समाज के प्रगति की एक दिशा है। इसी को हम क्षेत्र प्रगति (होरिजोन्टल प्रोग्रेस) का नाम दे सकते हैं। पर प्रगति की एक दिशा और है। आज मानव समाज के सामने एक नैतिक संकट की स्थिति है। विज्ञान की सहायता से आज के मनुष्य ने भौतिक दृष्टि से अपूर्व प्रगति की है। प्रकृति का अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए उपयोग करने की उसकी शक्ति पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। परन्तु जिस अनुपात में मनुष्य ने इस दिशा में प्रगति की है उसी अनुपात में उसका नैतिक स्तर ऊंचा नहीं उठा है। यही कारण है कि आधुनिक सभ्यता में एक प्रकार का असाम्य और असंतुलन पाया जाता है। हमारी भौतिक शक्ति पर नैतिक तत्वों का जो नियंत्रण होना चाहिये वह न होने से बहुत सी समस्यायें आज मनुष्य के सामने उपस्थित होती हैं। जीवन के प्रति हमारा दृष्टि कोण सर्वांगीण [इन्टीग्रेटेड] न होकर एकांगी है। यही कारण है कि हम अपने राजनैतिक जीवन में अथवा आर्थिक व्यवहार में नैतिक गुणों का उस तरह से आधार नहीं मानते जैसे व्यक्तिगत जीवन में। एक सच्चा और ईमानदार व्यक्ति भी अपने राजनैतिक हेतुओं की पूर्ति के लिए सचाई और ईमानदारी का उस प्रकार लिहाज नहीं रखेगा जैसा कि अपने व्यक्तिगत जीवन में। एक वर्ग दूसरे वर्ग का, और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का बिना किसी संकोच के आज शोषण करता है और हमारी नैतिक दृष्टि इसमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं करती। हमारे मन्दिर का जो आचरण-शास्त्र है वहां मंडी [बाजार] का नहीं है, और जो शान्ति का आचरण शास्त्र है वह युद्ध का नहीं। यह जीवन के प्रति एक भेद दृष्टि है और इसीलिये इसे हमने एकांगी दृष्टि भी कहा है। इसके विपरीत एक दूसरी दृष्टि है जो जीवन को एक अविभाज्य इकाई मानकर चलती है और जो नैतिक मूल्य जीवन के एक पक्ष में मान्य समझे जाते हैं वही नैतिक मूल्य जीवन के दूसरे सब पक्षों

में भी समान रूप से मान्य समझे जाते हैं। मन्दिर का, और मंडी का, तथा शान्ति का और युद्ध का एकसा आचरण-शास्त्र है। यही इस जीवन-दृष्टि की विशेषता है। जब महात्मा गांधी साधन और साध्य की एक रूपता पर जोर देते थे तो उनका यही अर्थ था। बिना अच्छे साधनों के अच्छे साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती महात्मा गांधी के इस आदर्श वाक्य का यही सार था। वह मानव प्रगति को नीचे के स्तर से ऊपर के स्तर की ओर ले जाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वह मानव में ही गुणात्मक परिवर्तन करना चाहते थे। उसके स्तर-विकास [वर्टिकल प्रोग्रेस] के लिए भी वह प्रयत्नशील थे। इतना ही नहीं वह तो यह मानते थे कि वास्तविक और स्थायी क्षेत्र-प्रगति ही तभी हो सकती है जबकि स्तर विकास उसका आधार हो।

यदि हम मानव के विकास का इतिहास देखें, तो मालूम पड़ेगा कि मानव की मानवता ही इसी में है कि जीवन में नैतिकता का क्षेत्र उत्तरोत्तर व्यापक और विस्तृत होता जाए। एक समय वह था कि जब समाज में न्याय-व्यवस्था जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार अपने विपक्षी से बदला लेकर संतोष मान लेता था। आज हम उस अवस्था में पहुंच गये हैं जबकि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में नीति, अनीति और उचित्-अनुचित तथा विवेक-अविवेक के आधार पर अपने व्यवहार को कसना चाहते हैं। व्यवहार में अभी हम उस आदर्श से बहुत दूर हैं, यह सही है। पर उसे हमने अपना आदर्श माना है यह भी एक शुभ लक्षण और प्रगति की सही दिशा की पहिचान तो है। अस्तु, हमारे इस प्रश्न का की हमारी सामाजिक प्रगति की दिशा क्या होनी चाहिये, हमें सही सही उत्तर मिल जाता है। और वह उत्तर यह है कि मनुष्य की प्रगति का वास्तविक लक्षण यही है कि वह नैतिक मूल्यों को जीवन में उत्तरोत्तर व्यापक और विस्तृत क्षेत्र में मान्यता दे। इसी पर अन्ततोगत्वा जिसे हमने क्षेत्र प्रगति कहा है वह निर्भर है। जो समाज मन्दिर, मंडी और शान्ति तथा युद्ध में एक ही आचरण शास्त्र को स्वीकार करता है और सब में समान रूप से नैतिक मूल्यों की प्रधानता को स्वीकार करता है उसमें भूख, बेकारी, असमानता और शोषण के लिए कदापि स्थान नहीं हो

: १ :

ईश्वर—मेरी धारणा में

तर्क की दृष्टि से यह स्वयं-स्पष्ट है कि इस सृष्टि में जो विभिन्नता हमें दिखाई देती है या प्रतीत होती है उसका अन्तिम (चरम) और आदि उद्‌गम कारण 'एकता' में होना चाहिए। यह 'एकता' पदार्थ (Matter) और आत्मा (Spirit) दोनों के परे है—और वह इस अर्थ में कि पदार्थ और आत्मा का विभेद (Distinction) पीछे हुआ है। इस अर्थ में, मार्क्स का दर्शन (तत्त्व-ज्ञान) उस चरमावस्था (Final Stage) से पहले या कम ही रह जाता है; क्योंकि एकता का दर्शन (Philosophy) होते हुए भी वह पदार्थ और आत्मा के विनाश पर आधारित है और दोनों में से एक को 'सर्वोच्च' मानता है। मार्क्स 'पदार्थ' को सर्वोच्चता देता है। उन लोगों की स्थिति भी कुछ अधिक अच्छी नहीं है, जो आत्मा को सर्वोच्चता देते हैं। मेरा मत यह है कि उस मूलभूत (basic) या सर्वोच्च तत्त्व में वे तत्त्व जो विकास की अवस्था में 'पदार्थ' और 'आत्मा' की संज्ञा पाते हैं, गर्भस्थ होते हैं। यद्यपि अन्ततोगत्वा पदार्थ और आत्मा का द्वन्द्व नहीं रह जाता, प्रक्रिया में—जो कि 'जीवन' है—यह द्वन्द्व विद्यमान होता है और शायद 'द्वन्द्व की सत्ता' भी कोई सही कथन नहीं है, हमें तो इसे 'अनेकता' या 'बहुत्व' कहना चाहिये।

एकत्व का बीज ही, जो आदि-कारण के रूप में था, इस सृष्टि की विविधता के रूप में व्यक्त हुआ है। यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि यह व्यक्तीकरण कुछ निश्चित नियमों (laws) के अनुसार ही घटित हुआ है। कारण कि इस विविध व्यक्तीकरण में यदि कोई अव्यवस्था नहीं, वरन् एक व्यवस्था (order) है, और इसमें कोई विवाद नहीं कर सकता, तो वह किन्हीं नियमों के अनुसार ही होनी चाहिए।

'ईश्वर' वही आदि-कारण है और व्यक्तीकरण के नियम ईश्वर या 'प्रकृति' के वे नियम हैं जिनसे यह सृष्टि कार्यशील है। यह सृष्टि आत्म-निर्भर है और उसमें किसी कर्त्ता और कर्म या क्रिया में भेद की खोज करना उसे ठीक न सम-

1509

झना है। वह आदि-कारण कर्त्ता और सृष्टि उसकी एक रचना (क्रिया) इस अर्थ में नहीं है कि वे एक दूसरे से पृथक् हैं। आदि-कारण और सृष्टि के बीच में (एक प्रकार की) पूर्ण अविरामता है; उसमें कोई विराम (टूट) नहीं, कोई स्वतन्त्रता नहीं, कोई पृथकता नहीं। आदि-कारण या 'ईश्वर' ही इस विशाल सृष्टि का सार है।

प्रकृति के इन नियमों को तोड़ने का अर्थ होगा सृष्टि में अव्यवस्था उत्पन्न करना। यह अव्यवस्था वाञ्छनीय नहीं है और अतः स्वयं अपना 'दण्ड' है। इस प्रकार, जब कोई प्रकृति के नियमों को तोड़ता है, तो उसी नियम-भंग में नियम-भंग का 'दण्ड' रहता है। इसलिए नियम-भंग और नियम-भंग का दण्ड दो स्वतन्त्र कोटियाँ नहीं हैं। अतः नियम-भंग का दंड न मिलने का भी प्रश्न नहीं उठता है। भंग और दण्ड तो एक ही क्रिया के दो रूप या पक्ष-मात्र हैं।

ऊपर की व्याख्या में हमारे सामने एक चित्र है, ऐसी आत्म-निर्भर सृष्टि का जिसमें उसके अविच्छिन्न अंग (या अवयव) के रूप में ईश्वर और ईश्वर के नियमों की सत्ता है। इस प्रकार सृष्टि के ऊपर या बाहर किसी ऐसे ईश्वर की धारणा करना जो अपनी स्व-निर्मित इच्छा के अनुसार उसका संचालन करता है--उसी प्रकार अकल्पनीय है जिस प्रकार पेड़ के ऊपर या बाहर, लेकिन उसके विकास का संचालन अपनी स्व-निर्मित इच्छा के अनुसार करनेवाले 'बीज' की धारणा करना। यदि बीज 'क' अक्षर है, तो पेड़ 'ख' अक्षर। जैसे पेड़ बीज से उत्पन्न होकर भी उसे अपने में ही छिपाये हुए है उसी प्रकार यह सृष्टि भी उसी से उद्भूत होकर उसे अपने में छिपाये हुए है। और जिस प्रकार बीज पेड़ में सर्वत्र समाया हुआ—सर्वव्यापक—है, उसी प्रकार 'ईश्वर' इस सृष्टि में सर्वत्र समाया हुआ—सर्वव्यापक है।

ईश्वर या प्रकृति के इन नियमों को तटस्थ होकर समझना और उन्हें प्रयोग से सिद्ध करना काम है 'विज्ञान' का। ईश्वर या प्रकृति के इन नियमों को आत्म-प्रेरणा से समझना और आत्म-अनुभूति द्वारा उन्हें सिद्ध करना काम है तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) का। तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) बड़ा भाई है और छोटे भाई विज्ञान

का काम है कि जो कुछ तत्त्व-ज्ञान ने निर्धारित और घोषित किया है, उसे फिर से निर्धारित और घोषित करे।

यदि प्रकृति के नियम ही वे साधन हैं जिनसे बीज ने ऐसे विविध और विस्तृत रूप में अपने आपको व्यक्त किया है, तो यह संभव होना चाहिये कि यह अनेकरूपा और विस्तृत सृष्टि फिर से अपने बीज (उद्‌गम) में सारभूत हो जाए। तात्पर्य यह है कि यह प्रतीत होने वाली 'अनेक-ता' अपनी आदि-एकता में लीन हो सकनी चाहिये। यह अनेकता की आदि-एकता में लीन और विलीन होने की क्रिया दर्शन की भाषा में 'मोक्ष' अथवा 'मुक्ति' नाम से जानी जाती है। और चूँकि इस विलय के पश्चात् उसका पुनः व्यक्तीकरण सम्भव होने और समझ में आने योग्य है, इसलिए 'मोक्ष' भी शाश्वत नहीं है। और इसलिए वह विचार-सम्प्रदाय, जो मोक्ष या मुक्ति को शाश्वत और स्थायी नहीं समझता, अधिक सही जान पड़ता है। वे नियम, जो हम मनुष्यों को इस लय और विलय का उपाय सिखाते हैं 'योग' हैं। जब मनुष्य अपने वर्तमान रूप में उन नियमों या 'योग' की सहायता से उस आदि-कारण को जान लेता या भली भाँति हृदयंगम कर लेता है तो कह सकते हैं कि उसने ईश्वर-दर्शन या **'ईश्वर का साक्षात्कार'** कर लिया है। और जब वह उस आदि-कारण में अपने आपको 'लय' कर लेता है तो यह कहा जा सकता है कि उसने 'मुक्ति' या 'मोक्ष' को प्राप्त कर लिया। जब विज्ञान अपने प्रयोगों के द्वारा प्रत्येक वस्तु (पदार्थ) को उसके आदि सार या तत्त्व के रूप में परिणत कर चुकेगा, तब उसे वाह्य-जगत् (objectivity) के क्षेत्र में वही सफलता मिल जायगी, जो 'योग' को अन्तर्जगत् (subjectivity) के क्षेत्र में मिल चुकी है।

अन्त का अन्त तो अन्त को आरम्भ में या आदि-रूप में लीन कर देने में है। इस प्रकार जन्म, बाल्य, यौवन और जरा के वृद्धि-क्रम-मृत्यु और पुनर्जन्म का अनन्त चक्र चलता ही रहता है। अतः मानव जीव का गन्तव्य मोक्ष या मुक्ति हो सकती है।

इस मुक्ति या मोक्ष के लिए हमें स्थापित नियमों के अनुसार चलना पड़ेगा। और आप इन स्थापित नियमों के अनुसार चल सकें इसके पहले यह

आवश्यक है कि आपको यह विश्वास हो कि इस 'अनेकता' में एकता निहित है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ है 'व्यष्टि' को 'समष्टि' में मिला देना। दूसरे शब्दों में, आप दूसरों में अपने 'स्व' को ही देखें। यही पूर्ण सत्य की अनुभूति है और इसी से पूर्ण 'अहिंसा' का जन्म होगा। सारी मानव-सेवा और समस्त क्रान्तियों का भी स्रोत यही है। इस प्रकार समाज-सेवा और त्याग के क्षेत्र में होकर ही मुक्ति का मार्ग गया है।

परन्तु **पूर्ण अहिंसा** किसी **पूर्ण मानव** के लिए ही सम्भव है। इसलिए अपूर्ण मानव को सदैव प्रयत्नशील रहना होगा और अपने अपूर्ण प्रयत्नों के द्वारा ही वह पूर्ण अहिंसा की स्थिति में पहुँच सकता है या पहुँचने की आशा करता है।

परन्तु यहीं एक कठिनाई उत्पन्न होती है। पूर्ण अहिंसा के मार्ग पर चलने में समाज को कुछ निश्चित उद्देश्य निश्चित समयों में प्राप्त करने पड़ते हैं। ऐसे अल्प-व्यापी उद्देश्य एक व्यक्ति तो जीवन में छोड़ सकता है, पर समाज नहीं छोड़ सकता। इसलिए अपूर्ण मनुष्य के लिए सामाजिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पूर्ण अहिंसा का रास्ता सम्भव नहीं है। हमारे सामाजिक और सामूहिक उद्देश्यों के लिए भिन्न मार्ग अपनाने का यही उचित कारण हो सकता है। हमें याद रखना होगा कि हमारे सामाजिक उद्देश्य ही अन्तिम उद्देश्य नहीं हैं। वे तो ऐसे उद्देश्य हैं, जिनकी पूर्ति अभी यहीं होनी है और उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हमारे प्रत्येक कदम में हमारी 'अब' और 'यहीं' की सीमाएँ रहती हैं। इन मर्यादाओं में से एक यह है कि हमारी सफलतायें स्थायी होंगी; नहीं। परन्तु सामाजिक विकास की हमारी यात्रा की प्रत्येक अगली अवस्था में हमारा मार्गान्तर कम से कम होता जायगा और अन्ततः हम ऐसी सीमा पर पहुँच जायेंगे, जहाँ पूर्ण अहिंसा वैयक्तिक और सामूहिक दोनों प्रकार से हमारा मार्ग बन जायगी और वहाँ पहुँचकर व्यक्ति और समाज—व्यष्टि और समष्टि का भेद बिल्कुल नहीं रहेगा। वही सनातन और शाश्वत आनन्द की या पूर्ण और व्यवस्थित अराजकता की अवस्था (स्थिति) होगी।

२६ जनवरी, १६४६।

————

: २ :

सच्चा आस्तिक कौन ?

आज दुनियां में जिस बड़े पैमाने पर मनुष्य मनुष्य का नाश करने में संलग्न है उसकी कल्पना मात्र से हृदय में अत्यन्त घृणा और ग्लानि के भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकते। कितना अत्याचार, कितनी पाशविकता और कितना पाखण्ड और स्वार्थ ! ज़रा विचार पूर्वक सोचिये तो ! सहस्रों वर्षों की सभ्यता का उत्तराधिकारी मानव नैतिक अधःपतन की किस पराकाष्ठा को पहुँच गया है, यह दुःख और अध्ययन का एक विषय है, जिसकी ओर से कोई भी विचारशील व्यक्ति अपने आपको उदासीन नहीं रख सकता। और आश्चर्य तो यह है कि मानव हीनता से आच्छादित इस वातावरण में भी मनुष्य को नैतिकता, मानव-हित, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्रवाद, न्याय और तपस्या की बात करते और ऊँची आवाज़ से उनके नारे लगाते ज़रा भी तो संकोच नहीं होता ! क्या मनुष्य अपने आपको इससे भी अधिक भूल सकता है ? यह प्रश्न मन में स्वभावतः उपस्थित होता है कि आख़िर इसका कारण क्या है ? कुछ लोग कहेंगे "दुनियां से धर्म और ईश्वर के प्रति विश्वास जाता रहा है। मनुष्य विधर्मी और नास्तिक बनता जा रहा है। उसीके ये परिणाम हैं। यह पूर्व जन्मों के पापों का फल है।" किन्तु उत्तर सन्तोष देनेवाला नहीं मालूम पड़ता। किसको विधर्मी और नास्तिक माना जाए ? ईश्वर-भक्ति और आस्तिकता की क्या पहिचान ? कौन है सच्चा आस्तिक, और कौन है सच्चा नास्तिक ? आज ही नहीं प्राचीन काल से, इतिहास इसका साक्षी है, इस प्रकार के वीभत्स से वीभत्स और अमानुषिक काण्डों में ऐसे लोगों का कुछ कम हाथ नहीं रहा है जो नियमपूर्वक गिरजा, मस्जिद और मन्दिर में बुलन्द आवाज़ से प्रार्थना करने में कभी नहीं चूके हैं। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी प्रार्थनाओं में शक्ति और साधन की मांग की है, ताकि उनके द्वारा की जानेवाली संहार-लीला में उनको दुश्मन के विरुद्ध सफलता मिल सके। मानव इतिहास के खून से रँगे हुए पृष्ठों की संख्या बहुत कम हो जाती यदि उनके निर्माण में मठाधीशों,

पुरोहितों और मौलवियों का हाथ न होता। आज भी हमको इसके प्रमाण देखने को मिलते हैं। हिन्दू समाज में ऐसे महान् पंडितों की कमी नहीं है जो ईश्वर और धर्म के प्रति अपनी संपूर्ण श्रद्धा रखते हुए भी समाज के एक बड़े समूह को सदा पददलित और दबा हुआ रखने ही के पक्ष में अपनी आवाज़ उठाते रहे हैं। न ऐसे धर्मात्मा और दानी कहे जानेवाले लोगों की कमी है जो अपने देश की गुलामी की ज़ंजीर की कड़ियों को अधिकाधिक मज़बूत करने में तथा अपने धर्म में किसी तरह का परस्पर विरोध नहीं देखते। धर्म तथा ईश्वर के प्रति विश्वास रखनेवाला व्यक्ति एक अत्यन्त क्रूर जमींदार और राजा अथवा पूँजीपति के रूप में भी देखने को मिलता ही है। न हिटलर और न मसोलनी ही अनीश्वरवादी या नास्तिक हैं, किन्तु मानवता के लिए वे किस रूप में अभिशाप बन गये यह बताने की आवश्यकता नहीं। प्रजातन्त्रवाद और शांति की रक्षा की ऊँची आवाज़ से दुहाई देनेवालों की कहानी भी हिटलर और मसोलिनी से कुछ कम हो सो बात नहीं है। रंग-रूप में भेद हो सकता है, पर असलियत एक है। जिनका इस सम्बन्ध में प्रत्यक्ष अनुभव है वे इस बात को भली भाँति समझते हैं। बदक़िस्मती से या खुशक़िस्मती से हिन्दुस्तान को यह कटु अनुभव है और वह उसको पहिचानता है। अस्तु, यदि आस्तिकता का अर्थ ईश्वर के प्रति शब्दों द्वारा अपनी श्रद्धा प्रकट करना, नियमपूर्वक मन्दिर, मस्ज़िद, अथवा गिरजा में जाकर ऊँचे स्वर से प्रार्थना करना तथा अन्य तथाकथित धार्मिक कृत्यों में भाग लेना मात्र है, तो कहना होगा कि इस प्रकार की आस्तिकता केवल वाह्य आडम्बर है जिसके द्वारा न आज तक मनुष्य-समाज का कोई भला हुआ है और न आगे ही सम्भव है। यह तो केवल एक ऐसी निर्जीव वस्तु है जो वास्तविकता के अंश से शून्य है। इसका कोई यह अर्थ कदापि न लगावे कि मन्दिर आदि स्थानों में जाना, प्रार्थना करना तथा प्राचीन धर्म-ग्रन्थों को पढ़ना कोई बुरा काम है। केवल इतना ही समझ लेने की आवश्यकता है कि ये सब बातें अन्तर्निहित भावना के बाहरी चिन्ह मात्र हैं। उस अन्तर्निहित भावना के अभाव में केवल बाहरी रूप का प्रदर्शन करते रहना आस्तिकता नहीं मानी जानी चाहिए। अब प्रश्न यह है कि वह अन्तर्भावना क्या है?

अगर हम ध्यान पूर्वक देखें तो हमको यह स्पष्ट होते देर नहीं लगेगी कि संसार में हमेशा दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं—सत् की और असत् की, अच्छी और बुरी। जीवन इन परस्पर-विरोधी शक्तियों का निरन्तर चलनेवाला संघर्ष मात्र है। जिस प्रकार प्रकाश के साथ अन्धकार का नाश होना अवश्यम्भावी है, धूप के होते हुए छाया का कोई अस्तित्व नहीं रह सकता, ठीक उसी तरह अच्छी शक्तियों की प्रगति के सामने बुरी शक्तियों का लोप हो जाना अनिवार्य है। प्रकाश से शून्य स्थान ही अन्धकार है, चैतन्य के अभाव का नाम ही जड़ता है, दूसरे शब्दों में अन्धकार और जड़ता भावात्मक गुण (Positive Categories) नहीं हैं, वह तो इन भावात्मक गुणों (Categories) का अभाव मात्र हैं। इन्हीं को हम अभावात्मक गुण (Negative Categories) का नाम दे सकते हैं। बुराई भी एक प्रकार का नाम दे सकते हैं। बुराई भी एक प्रकार का अभावात्मक गुण (Negative Category) है अर्थात् अच्छाई जो कि एक भावात्मक गुण (Positive Category) है उसका अभाव मात्र है।

अच्छाई और बुराई का विचार करते समय इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि 'अच्छाई और बुराई' का रूप देश और काल की परिस्थितियों से सीमित है और उसके साथ साथ बदलता रहता है। ये (अच्छाई और बुराई) विचारमूलक भावनाएं (Subjective Sentiments) हैं, परन्तु इनका वास्तविक रूप (Objective form) समय के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। अच्छाई और बुराई की धारणा (Conception) मात्र एक सदा रहनेवाली (Eternal) बात है, किन्तु उसका व्यवहारिक रूप परिवर्तनशील है। अतः अच्छाई और बुराई वाह्यरूप में (Viewed in their objectivity) सापेक्ष (Relative) हैं। जो वस्तु आज अच्छी है वही कल बुरी हो सकती है, और जो मेरी दृष्टि से अच्छी है वह उसी समय दूसरे की दृष्टि से बुरी भी हो सकती है। 'अच्छाई' और 'बुराई' की सापेक्षता दो प्रकार की है, एक काल (समय) की दृष्टि से और दूसरे व्यक्ति (वर्ग) की दृष्टि से। समय की दृष्टि से हमारा अर्थ उस वर्ग-दृष्टि से

होता है (वर्गहीन समाज में यह भेद नहीं रहेगा) जो प्रगतिशील वर्ग की दृष्टि मानी जाती है। प्रगतिशील वर्ग वह है जिसका हित मानव के विकास के हित के अनुरूप है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि अच्छाई और बुराई वैसे तो वर्ग-सत्य हैं किन्तु जो वर्ग सारे समाज के विकास का साधन बनने की शक्ति अपने में रखता है उसके सत्य को ही हम युग-सत्य कहेंगे। उस काल विशेष के लिये वही अच्छाई का रूप होगा। उदाहरण के तौर पर पूंजीवाद एक वर्ग-सत्य (पूंजीपतियों का सत्य) होते हुए भी युग-सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि आज वह मानव समाज के विकास में एक महान बाधा के रूप में उपस्थित है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पूंजीवाद के द्वारा मानव समाज के हित की किसी भी काल में साधना नहीं हुई। बीता हुआ समय ऐसा था जब पूंजीवाद एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में उपस्थित था। फिर भी चूंकि मनुष्य की तरह समाज भी अनुभव से सीखता है और एक दूसरे की भूलों से लाभ उठाता है, इस वास्ते उस प्रकार का विशुद्ध पूंजीवाद जिसका अनुभव वर्तमान औद्योगिक राष्ट्र बीते हुए समय में एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में कर चुके हैं, आज तो औद्योगिक और वर्तमान सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों के विकास का साधन नहीं हो सकता। ट्राट्सकी की संयुक्त विकास प्रणाली (Combined Law of development) का यही आधार है। 'अच्छाई' और 'बुराई' के उपरोक्त विश्लेषण के बाद हम सच्चा आस्तिक कौन है? इस प्रश्न का उत्तर देने की स्थिति में अपने आपको पाते हैं।

वह व्यक्ति जो देश और काल की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपनी शक्ति अच्छे अथवा प्रगतिशील तत्त्वों की स्थापना और उनके विकास में लगाता है और बुरे अथवा प्रगति-विरोधी तत्त्वों से संघर्ष करता है 'वास्तव में सच्चा आस्तिक है। और इसके विपरीत जो व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग' (दुरुपयोग) बुरी अथवा अप्रगतिशील शक्तियों का साथ देने में करता है वही वास्तव में नास्तिक है, चाहें फिर अपने बाह्य आचरण में वह कितना ही धर्मनिष्ठ दिखने का प्रयत्न क्यों न करे अथवा क्यों न दिखाई पड़े।

आस्तिकों की भी दो श्रेणियां हैं। एक श्रेणी में वे लोग आते हैं जो स्वयं अपने व्यक्तिगत आचरण में अच्छाई वरतते हैं यद्यपि उनकी अच्छाई अधूरी होती है क्योंकि समाज के प्रगति विरोधी वर्ग अथवा बुरी शक्तियों पर वे अपने निर्वाह के लिये निर्भर रहते हैं और इस वास्ते उनको सहयोग देते हैं। देश की वर्तमान स्थिति में इस श्रेणी में वे सब लोग आजायंगे जो व्यक्तिगत-रूप से प्रगतिशील शक्तियों के समर्थक हैं। अपने व्यक्तिगत व्यवहार में उनके अनुरूप आचरण करने का प्रयत्न भी करते हैं किन्तु फिर भी जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए अप्रगतिशील शक्तियों और वर्गों (राजा, महाराजा, नवाब, ज़मींदार, पूंजीपति, विदेशी सरकार आदि) के साथ बंधे हुए हैं। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो न केवल व्यक्तिगत जीवन में प्रगतिशील शक्तियों के समर्थक हैं, बल्कि जो अपनी सारी शक्ति उनके विकास और अप्रगतिशील शक्तियों के विनाश में लगाते हैं।

यदि मनुष्य आस्तिकता की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकार कर लेता है और संसार में इस प्रकार की विवेकपूर्ण आस्तिकता का प्रचार यथेष्ट मात्रा में हो जाता है, तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि संसार की बहुत सी व्याधियों का सफलतापूर्वक अन्त हो सकेगा। इसीलिए शिक्षाक्रम में जिस नैतिक शिक्षा को सर्वोच्च स्थान है उसका उद्देश्य देश के भावी नागरिकों में इस प्रकार की सच्ची आस्तिकता के भावों का विकास करना ही है। इस प्रकार की विवेकपूर्ण आस्तिकता को ग्रहण करने के पश्चात्, यह बात गौण हो जाती है कि उसका प्रदर्शन कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में भी होता है अथवा नहीं।

['वीरबाला': जनवरी, १६४१]

: ३ :

जीवन में 'साधन' और साध्य

जीवन में साधन और साध्य का क्या स्थान है, यह प्रश्न प्रायः उठाया जाता है। महात्मा गांधी जब यह कहते हैं कि हम सत्य और अहिंसा को अपना धर्म (Creed) समझें, केवल नीति नहीं, तो वह इसी प्रश्न के सम्बन्ध में अपने मत को प्रकट करते हैं। उनकी मान्यता यह है कि पवित्र साधन के बिना किसी पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है—इसकी कल्पना करना भ्रम है। यहां साधन और साध्य की तनिक विवेचना कर लेना उचित होगा। 'साधन' एक मार्ग है, निरन्तर बहनेवाला। साधन, गति है, अनन्त। इसके विपरीत 'साध्य' निर्दिष्ट है, इसलिए जीवन में मुख्य स्थान 'साध्य' का और गौण स्थान 'साधन' का है। 'साधन' धर्म नहीं हो सकता, ऐसा कर्त्तव्य नहीं बन सकता जिसका त्याग करने की कल्पना ही न की जा सकती हो। वह तो नीति का ही रूप ले सकता है। जो धर्म बन गया, वह फिर साधन कहाँ रहा? वह तो 'साध्य' हुआ। साधन और साध्य के सम्बन्ध में उक्त विचारधारा सामान्य रूप से स्वीकार की जाती है।

परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने का एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। यह दृष्टिकोण जीवन में साधन को प्रमुख स्थान देगा और 'साध्य' को गौण। इसका कारण स्पष्ट है। इस दृष्टिकोण को माननेवालों की दृष्टि में पहली चीज़ 'साधन' है, क्योंकि 'जीवन' का मेल 'साधन' ही से बैठ सकता है। 'साधन' ही निरन्तर बहने वाला मार्ग है और जिसे हम 'साध्य' मानते हैं, वह तो उस मार्ग पर खड़े मील के पत्थर (Mile Stones) हैं, जिनका उस मार्ग से स्वतन्त्र कोई अस्तित्व नहीं। उनका महत्त्व तो केवल इतना ही है कि वे इस बात के द्योतक हैं कि हम कितना मार्ग तय कर चुके हैं? अगर मार्ग ही न हो, तो उन मील के पत्थरों का अस्तित्व ही कहां रह जाता है? और मनुष्य का जीवन भी तो एक मार्ग के रूप में है। 'जीवन' का अर्थ ही निरन्तर चलना है। गति ही जीवन है। अतः जीवन में 'साधन' का क्या स्थान है, यह प्रश्न ही गलत है। जीवन तो

स्वयं ही 'साधन' है ! परन्तु साधन है किस बात का ? उस स्थिति का—जो इस 'साधन' का अन्त और उद्गम दोनों ही है, और इस वास्ते उससे परे है। उदाहरण से बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। जीवन एक निरन्तर बहनेवाली नदी के समान है और 'सागर' वह स्थिति है जो नदी से बाहर है और जो नदी का अन्त है, तो उसका उद्गम भी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीवन का अगर कोई 'साध्य' है तो वह जीवन के अन्तर्गत नहीं हो सकता, वह तो उसके परे ही होगा, क्योंकि जीवन तो स्वयं ही साधन है। इसके अन्तर्गत जो होगा वह 'साध्य' नहीं हो सकता। वे तो केवल वे मील के पत्थर होंगे जो, हम अपने मार्ग पर कहाँ तक आगे बढ़ चुके हैं, इसका संकेत करते हैं। ऐसी दशा में जीवन साधन है और 'मुक्ति' जीवन का साध्य। अस्तु, जीवन में असली चीज साधन है, उसका त्याग करके हम अपने सच्चे 'साध्य' तक नहीं पहुँच सकते। उपरोक्त विचार जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। इसको हम जीवन-सम्बन्धी आध्यात्मिक दृष्टिकोण का नाम दे सकते हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के दृष्टिकोण को मानते हैं, उनके लिए जीवन में, संसार में, ऐसा कोई कार्य नहीं हो सकता जिसे वह लक्ष्यरूप मान लें। उनकी दृष्टि में तो इस संसार में किसी काम की उपयुक्तता तथा औचित्य का प्रमाण ही यह है कि उनकी पूर्ति अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलते रहने के सिलसिले में हो जाये। अगर इसके विपरीत किसी कार्य की पूर्ति के लिए उस निर्दिष्ट मार्ग अथवा साधन से हटने की आवश्यकता मालूम पड़े, तो वह कार्य ही अनुचित और त्याज्य है। उदाहरणार्थ, यदि हम सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करना जीवन का धर्म मान लेते हैं, तो संसार में कौनसा कार्य हमारे करने योग्य है और कौनसा नहीं ? किसके लिए हमको चिन्तित रहना चाहिये और किसके लिए नहीं ! ये प्रश्न ही नहीं उत्पन्न हो सकते। सत्य को लक्ष्य मानकर उसकी प्राप्ति के लिए अहिंसक मार्ग का अनुसरण करने के सिलसिले में जो सांसारिक कार्य पूरे हो जाते हैं, वे ही उचित हैं और अन्य का अनौचित्य भी इसी से स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए तो महात्मा गांधी ने कई बार इस को दोहराया है कि हिंसा से मिलने वाली आज़ादी मेरे लिए त्याज्य

है, मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता। हाँ, एक बात अवश्य है। इस प्रकार के विचार रखने वाले लोगों का यह विश्वास और यह श्रद्धा होती है कि प्रत्येक योग्य सांसारिक लक्ष्य उस सही मार्ग पर चलने में अवश्य ही पूरा होगा। अतः जब महात्मा गांधी यह कहते हैं कि हिंसा द्वारा मिली आज़ादी मेरे लिए त्याज्य है, तो उसका अर्थ यह है कि उनका यह विश्वास है कि आज़ादी जो वास्तव में लेने योग्य है, अवश्य ही सत्य और अहिंसा के मार्ग पर आरूढ़ रहते हमको प्राप्त हो सकेगी। आखिर अच्छे और बुरे की पहिचान क्या है? जो चीज़ सत्य की ओर ले जाने वाली है वही अच्छी है, योग्य है, और जो हमको उससे परे हटाने वाली है, वही बुरी है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, अर्थात् सत्य की प्राप्ति है। अतः इस जीवन में भी वही लेने योग्य है, जो इस सत्य की प्राप्ति में हमारा सहायक हो। उपरोक्त विचार-धारा में 'साधन' और 'साध्य' की बहस रह नहीं जाती। यह इस जीवन का प्रश्न नहीं है। यहाँ तो साधन ही 'साध्य' है, उस मार्ग पर चलते रहना ही एक मात्र हमारा लक्ष्य है।

किन्तु जीवन के प्रति एक और दृष्टिकोण भी हो सकता है। यह दृष्टिकोण संसार की वास्तविकता और व्यवहारिकता को स्वीकार करता है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सामने हर समय काल और परिस्थिति की उपयुक्तता और आवश्यकता का ध्यान रखते हुए एक न एक सांसारिक लक्ष्य अवश्य रहता है जिसकी प्राप्ति के लिए वह बराबर प्रयत्नशील रहता है। जीवन के यही लक्ष्य उसके 'साध्य' होंगे। अब प्रश्न यह है कि अमुक 'साध्य' तक पहुँचने के लिए जो 'साधन' काम में लाये जायें, उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की मर्यादा कायम रखना उचित है अथवा नहीं? इस दृष्टिकोण के अनुसार 'साधन' का निर्णय 'साध्य' का ध्यान रखकर ही किया जाना चाहिए। (The end justifies the means) अगर हमारा साध्य उत्तम है, तो उसके लिए जिन साधनों का भी प्रयोग करना हमें अनिवार्य मालूम पड़े उनका प्रयोग करना उचित होगा। यहाँ 'साध्य' और 'साधन' के सापेक्षिक महत्व का ध्यान रखना होगा। एक जितना महत्वपूर्ण होगा दूसरे का औचित्य अथवा अनौचित्य उसी हद तक पहले पर निर्भर रहेगा। इस बात को और अधिक स्पष्ट करने

के पहिले 'पवित्र साधन' क्या है, इस पर कुछ विचार कर लेना उचित होगा।

पवित्रता का सम्बन्ध उससे है, जिसे हम रोज़मर्रा की भाषा में नैतिक कहते हैं। पवित्र साधन से हमारा तात्पर्य नैतिक साधन से होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या नैतिक है और क्या अनैतिक ? हम जानते हैं कि सत्य, प्रेम, सहानुभूति, ईमानदारी आदि गुणों की गिनती नैतिक गुणों में की जाती है। इनके विपरीत जितने भी गुण हैं, जैसे झूठ, रागद्वेष, हृदय-हीनता और बेईमानी आदि, वे सब अनैतिक गुण माने जाते हैं। ऐसा क्यों है ? अमुक गुण नैतिक और अमुक अनैतिक किस आधार पर माने जाते हैं ? अगर हम बारीक और ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करें, तो मालूम होगा कि जो गुण अनुभव से सामाजिक हित और उसके लिए सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने की से जरूरी दृष्टि जान पड़े उनको मनुष्य ने नीति का जामा पहनाया और जो सामाजिक हित और उसके अनुरूप व्यवस्था के लिये बाधक मालूम पड़े उनको अनैतिक स्वीकार किया गया। यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि अगर प्रत्येक मनुष्य दूसरे को धोखा देना, दूसरे से द्वेष का व्यवहार करना आरंभ कर दे तो हमारी जीवन-व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न होजायगी। अतः सामाजिक हित के लिए सारी सामाजिक संगठन आवश्यक है और उस संगठन का सुचारू रूप से संचालन करने के लिये एक विशेष प्रकार का पारस्परिक व्यवहार जरूरी है और उस व्यवहार के अन्तर्गत आने वाले गुणों को नैतिक गुणों का नाम दिया गया है। अस्तु, नैतिक और अनैतिक का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उनके पीछे सामाजिक उपयोगिता का दृष्टिकोण काम करता है। दूसरे शब्दों में अमुक गुण अच्छे इसीलिये माने जाते हैं कि साधारणतया वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं। इसका यह भी अर्थ निकलता है कि विशेष समय पर ऐसी विशेष परिस्थितियां भी उत्पन्न हो सकती हैं कि जब वे ही गुण समाज और व्यक्ति के सच्चे हित-साधन की दृष्टि से बाधक साबित हों। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति जो नैतिक गुणों का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, वरन् उसका महत्त्व इसी कारण से मानता है कि उनके पीछे सामाजिक हित की दृष्टि छिपी हुई है, किसी भी सामाजिक हित (जिसके अन्तर्गत सच्चा व्यक्तिगत हित

आ जाता है) के मुकाबले में अमुक नैतिक कहे जाने वाले गुणों को कदापि महत्त्व न देगा। कुछ उदाहरण लेने से हमारा तात्पर्य अधिक स्पष्ट हो सकेगा। किसी व्यक्ति को सफर करते समय रास्ते में एक चोर मिलता है। वह उस चोर से अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना चाहता है और ऐसा करने के लिये उसे झूठ बोलना पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति का झूठ बोलना, जो साधारणतया अनैतिक गुण है, उचित था अथवा अनुचित? चूंकि झूठ बोलने का हेतु यहाँ उत्तम था, हम उस व्यक्ति का झूठ बोलना उचित समझेंगे। परन्तु यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उस सम्पत्ति की रक्षा करने के विचार से वह व्यक्ति उस चोर की हत्या कर डालता है तो उसकी हत्या करना उचित होगा अथवा अनुचित? संभवतः हमें कहना पड़ेगा कि चोर की हत्या करना अनुचित होगा! क्योंकि समाज की निगाह में साधारणतया मनुष्य की अपेक्षा धन का मूल्य कुछ न होगा। किन्तु इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य अपनी आत्म-रक्षा के लिये किसी दूसरे मनुष्य की हत्या कर डालता है, तो वह अवश्य ही क्षम्य होगा। उपरोक्त उदाहरणों का यह अर्थ निकलता है कि जीवन में 'साधन' और 'साध्य' के स्थान का निर्णय करते समय निर्णय करने वाले को दोनों का उसकी दृष्टि में क्या सापेक्षिक महत्त्व है, यह तौलना होगा। यही तो कारण है कि यदि एक मनुष्य चार पैसे के लिए अपने किसी साथी से झगड़ता भी है, तो हम उसे उचित नहीं समझते, जबकि दस हजार रुपये के लिए उसके विरुद्ध मुक़दमा चलाना भी हम बुरा नहीं मानते।

यहाँ दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं। कौन-सा 'साध्य' उत्तम है और कौन-सा हीन, इसका निर्णय कैसे हो? क्या नैतिक साधनों के द्वारा ही हम अपने 'साध्य' की प्राप्ति नहीं कर सकते?

पहले उत्तम साध्य के प्रश्न को हम लेंगे। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना काफी होगा कि इस बात को स्वीकार करते हुए भी कि क्या उत्तम है और क्या हीन, इस बारे में सचाई के साथ मतभेद हो सकता है, साधारणतया यह तय करना कठिन न होगा कि वास्तव में क्या सही है?

दूसरा प्रश्न साधन का है। नैतिक साधनों द्वारा हम अपने 'साध्य' तक पहुँच सकते हैं अथवा नहीं, इस प्रश्न के साथ एक मर्यादा जो प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्य के सामने रहती है, उसे हमें भूलना नहीं चाहिये। वह मर्यादा है समय की। हम अमुक साध्य की पूर्ति अमुक समय में ही करना आवश्यक समझते हैं, उसकी पूर्ति के लिये अनन्त तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते। अतः आपके सामने यह संभावना उत्पन्न हो सकती है कि आपका विरोधी आपकी सचाई और ईमानदारी का दुरुपयोग करके आपको अपने निश्चित लक्ष्य तक एक निश्चित समय में पहुँचने से रोक सके। ऐसी परिस्थिति में एक व्यावहारिक व्यक्ति के नाते आपको अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए कुछ ऐसे साधन अपनाने पड़ सकते हैं जो सामान्यतया ठीक नहीं माने जाते। अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उस सीमा तक आपको साधन के सम्बन्ध में समझौता (Compromise) करना पड़ेगा। यदि आपने ऐसा करने से इन्कार किया और अपने सिद्धान्तों पर आप अटल रहे, तो संसार आपके सिद्धान्तों की सराहना कर सकता है; किन्तु वह आपको अपने पथ-प्रदर्शन के रूप में सही मायने में कभी स्वीकार नहीं करेगा और यदि किसी देश अथवा वर्ग ने इस प्रकार की एकांगी दृष्टि को अपनाया, तो उसकी शक्ति सदा कुण्ठित ही रहेगी। इस प्रकार का 'साधन' सम्बन्धी समझौता दो परिस्थितियों में विशेष रूप से करना होगा—जब हमारे विरोधी के विरोध का कारण उसके आर्थिक और वर्गहित हैं, अथवा जब हमारा विरोधी कोई ऐसा व्यक्ति है जिसकी गणना सामान्यतया एक सामाजिक प्राणी (Social Being) में नहीं की जा सकती है अर्थात् जिसमें एक नागरिक की दृष्टि का सर्वथा अभाव है। पहली श्रेणी में राजनैतिक और आर्थिक संघर्ष आते हैं, और दूसरी श्रेणी में ऐसे व्यक्ति जैसे चोर, डाकू आदि।

'साधन' और 'साध्य' के विषय में जो कुछ हमने उक्त पंक्तियों में लिखा है, उसके आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण जीवन के प्रति वास्तविकता और व्यावहारिकता लिये हुए है, जो एक अनिश्चित समय तक अपनी लक्ष्य-पूर्ति के लिए प्रतीक्षा करने की कल्पना नहीं करता, उसके सामने मानव दुर्बलताओं के कारण ऐसे अवसर आ सकते हैं कि

जब अपने 'साध्य' की पूर्ति के लिए उसे अपने उचित माने जाने वाले साधनों के साथ किसी हद तक समझौता करना पड़े। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के समझौते की एक मर्यादा रखनी होगी। किन्तु इस मर्यादा को शब्द-बद्ध करना कठिन है। पिछले दिनों हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेकर श्री राज-गोपालाचार्य और महात्मा गांधी में जो मतभेद उत्पन्न हुआ था, उसका आधार यही दृष्टिभेद था। एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के नाते श्री राजाजी ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए 'साधन' के (अहिंसा) प्रश्न पर समझौता करना जरूरी समझा। हां, श्री राजाजी की यह मान्यता कि इस प्रकार उन्होंने अहिंसा-सिद्धान्त के साथ किसी प्रकार समझौता (Compromise) नहीं किया है, अवश्य ही भ्रममूलक है। आदर्श और व्यवहार का सम्पूर्ण समन्वय आज तक कोई नहीं कर सका है और भविष्य में यह सम्भव हो सकेगा, ऐसी आशा रखना निराधार जान पड़ता है।

['जीवन-साहित्य' : फरवरी १९४१ ई०]

: ४ :

'स्वेच्छा' और 'अनिवार्यता'

मानव-प्रकृति का अध्ययन हमें यह बतलाता है कि मनुष्य स्वभाव से ही बन्धन पसन्द नहीं करता। जिस कार्य में बन्धन और अनिवार्यता होती है उससे साधारणतया मनुष्य की अरुचि और जो कार्य वह स्वेच्छा से करना चाहता है उसमें रुचि पाई जाती है।" इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अराजकवादी अपने आदर्श और सिद्धान्तों को सही मानते हैं और यह आशा प्रकट करते हुए नहीं थकते कि समाज के विकास में एक-न-एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब राज्य-संस्था का अस्तित्व सर्वथा अनावश्यक होगा, इसलिए नष्ट हो जायेगा, और संसार का सम्पूर्ण कार्य स्वेच्छापूर्वक स्थापित संघों के द्वारा चलेगा। उस समय मनुष्य अपनी प्रगति की चरम सीमा पर जा पहुँचेगा और मानव-इतिहास में पहली बार वह सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकेगा। अराजकवादियों का उक्त आदर्श बहुत अच्छा मालूम पड़ने पर भी व्यावहारिक नहीं जान पड़ता। साधारणतया यह विश्वास नहीं होता कि समाज का संगठन किसी समय भी पूर्ण स्वेच्छा के आधार पर चल सकेगा। इस शंका और अविश्वास का एक बड़ा कारण है—और वह यह कि साधारण व्यक्ति की 'स्वेच्छा' का वास्तव में क्या अर्थ हमें लगाना चाहिए, इसको ठीक-ठीक न समझना। इस विषय में हम यहाँ आवश्यक विचार करेंगे।

'अनिवार्यता' में बाह्य बन्धन का भाव और 'स्वेच्छा' में इस प्रकार के किसी बन्धन के भाव का अभाव है। राज्य के नियमों का पालन करना प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य है। यदि वह उनका उल्लंघन करता है तो उसे दण्ड दिया जा सकता है। किसी अच्छे उद्देश्य को लेकर कार्य करने वाली सार्वजनिक संस्था को सहायता देना हमारे लिये अनिवार्य नहीं है। यह हमारी स्वेच्छा पर है कि हम उसको कोई सहायता पहुँचावें अथवा न पहुँचावें। यहाँ तक कि कुछ लोग तो राज्य के कानून की मर्यादा में रहते हुए ऐसी

संस्थाओं का अहित करने की चेष्टा करते हुए भी देखे जाते हैं। यदि आप उनके इस आचरण पर ऐतराज करें तो आपको उत्तर मिलेगा "हमारी इच्छा"। यह अनिवार्य नहीं है कि हम किसी ऐसी संस्था की सहायता करें ही। मैंने अपने एक मित्र से एक बार यह प्रश्न किया "क्यों भाई, तुम अमुक कार्य में शामिल क्यों नहीं होते ? हम सबने ही मिल कर तो यह निश्चय किया था कि यह कार्य आरम्भ किया जावे।" उन्होंने अत्यन्त सहज भाव से उत्तर दिया "वैसे ही, कोई विशेष बात नहीं। आपको याद नहीं है, हमने निर्णय भी तो यही किया था कि उस कार्य में योग देना हमारे लिये अनिवार्य न होगा। वह अपनी अपनी इच्छा पर ही निर्भर होगा।" उनके इस तर्क को सुन कर मैं चुप होगया। वह अपने तर्क की सच्चाई में किसी तरह की कमी अनुभव करते हुए नहीं मालूम पड़े। मुझे उस तर्क की तर्कहीनता पर हँसी आई। क्षण भर के लिए मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि एकांगी तर्क कितना ग़लत साबित हो सकता है। तर्क के विरुद्ध श्रद्धा के पक्ष का यही बल है, और इस बल को आधार बना कर और तर्क की दुरुपयोगिता को सामने रख कर कई समझदार लोग भी तर्क-बुद्धि का विरोध करते हुए पाये जाते हैं। किन्तु श्रद्धा के प्रति अपनी अन्ध श्रद्धा में वे यह भूल जाते हैं कि तर्क से कहीं अधिक हानि अन्ध-श्रद्धा ने मानव-हित की की है। इतिहास इसका साक्षी है। खैर मैं कहने यह जारहा था कि मेरे उन आत्म-संतोषी मित्र का तर्क कितना ग़लत था! 'स्वेच्छा' शब्द का जो अर्थ उन्होंने लगाया, और जो अर्थ लगाने के साधारणतया हम सभी आदी हो गये हैं वह सर्वथा गलत और एकांगी है। इस शब्द का सही अर्थ मेरी राय में क्या हो सकता है और 'स्वेच्छा' तथा 'अनिवार्यता' में वास्तव में क्या भेद है इस बारे में अब कुछ विचार करना उचित होगा।

यह हम ऊपर लिख चुके हैं कि 'अनिवार्यता' में बाह्य बन्धन का भाव और 'स्वेच्छा' में उसका अभाव है। ठीक उसी तरह जैसे 'परतन्त्रता' में दूसरों की गुलामी और 'स्वतन्त्रता में उसके अभाव का भाव निहित है। परन्तु 'परतन्त्रता' और 'स्वतन्त्रता' दोनों में ही एक हद तक समानता है—और वह है 'तन्त्र' के अस्तित्व की। 'परतन्त्रता' में भी 'तन्त्र' की उतनी ही आवश्यकता है जितनी

'स्वतन्त्रता' में। केवल भेद इतना है कि एक में 'तन्त्र' दूसरे का और एक में स्वयं का है। 'स्वतन्त्रता' का अर्थ यदि 'तन्त्रहीनता' हम लगाने लग जायें तो 'स्वतन्त्रता' 'अव्यवस्था' का पर्यायवाची शब्द हो जायेगा। इसी प्रकार का भेद 'अनिवार्यता' और 'स्वेच्छा' में है। अमुक कार्य करना हमारे लिये 'अनिवार्य' है और अमुक हमारी 'स्वेच्छा' पर, इसका इतना ही अर्थ है कि पहली अवस्था में उस कार्य के हिताहित सोचने की जिम्मेदारी हम पर न होकर किसी और पर है जिसकी ओर से वह अनिवार्यता हमारे लिए लगाई गई है, जबकि दूसरी दशा में वह जिम्मेदारी हममें से सब पर व्यक्तिगत रूप से आजाती है। यदि गहराई से सोचें तो स्वेच्छा' की दशा में उस कार्य में योग देने और उसे सफल बनाने का हमारा जिम्मा और भी अधिक है। अस्तु, 'अनिवार्यता' और 'स्वेच्छा' दोनों ही में कार्य-विशेष के हिताहित की भावना का होना समान रूप से अनावश्यक है। इस हद तक अनिवार्यता और स्वेच्छा में कोई भेद नहीं है। भेद की बात केवल इसी सम्बन्ध में आती है कि एक हालत में जिम्मेदारी दूसरे पर और दूसरी हालत में अपने स्वयं पर रहती है। कार्य के हिताहित की भावना से शून्य 'अनिवार्यता' पर अत्याचार का और इस भावना से शून्य 'स्वेच्छा' स्व-अत्याचार का रूप ले लेती है।

'स्वेच्छा' का यह अर्थ लगाना कि बिना किसी बात का ध्यान किये हम जो चाहें सो कर सकते हैं अर्थ का अनर्थ करना है। स्वेच्छा के सही मायने तो यह हैं कि उस कार्य-विशेष में हमें कितना और कैसा योग देना चाहिए। इसका निर्णय कार्य की हित की दृष्टि से हम स्वयं ही कर लें। और चूंकि सिद्धान्तरूप से अपने कार्य और हित के बारे में हम स्वयं ही सबसे अच्छा निर्णय कर सकते हैं, ऐसा मानना सही होगा—इस वास्ते 'अनिवार्यता' की अपेक्षा 'स्वेच्छा' और 'परतन्त्रता' की अपेक्षा 'स्वतन्त्रता' की श्रेष्ठता है। मेरे उक्त मित्र यदि 'स्वेच्छा' का सही अर्थ स्वीकार कर लें तो उनको अपनी भूल साफ़ दिखाई पड़ सकती है। और यदि हममें से प्रत्येक 'स्वेच्छा' के इसी अर्थ को अपनाने और व्यवहार में लाने का प्रयत्न करना अपना कर्त्तव्य मानले, तो इसमें कोई शंका नहीं कि हमारे बहु-सी कठिनाइयों और समस्याओं का एक

आसान हल निकल आये। मनुष्य की मनुष्यता का यही सच्चा और सही माप है।

['जीवन-साहित्य' : दिसम्बर १९४१ ई०]

'शिक्षा' और 'साहित्य'

: २ :

: १ :

शिक्षा का आदर्श

शिक्षा-शास्त्रियों के सामने एक प्रश्न प्रायः उठा करता है। क्या शिक्षा को किसी विशेष आदर्श अथवा विचार-धारा को लेकर चलना उचित है अथवा नहीं? इसी विषय पर हम यहाँ कुछ विचार करेंगे।

इस संबंध में पहला सवाल यह पैदा होता है कि शिक्षा का वास्तव में ध्येय क्या है? संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य है बालक के व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास करना। बालक में जन्म से ही कुछ शक्तियां होती हैं, जो आरम्भ में सुप्तावस्था में रहती हैं। उनको जाग्रत और विकसित करना शिक्षा का लक्ष्य है और इस कार्य में आवश्यक सहायता और मार्ग-प्रदर्शन करना शिक्षक का कर्तव्य है। परन्तु यहां एक प्रश्न और उत्पन्न होता है। क्या शिक्षा का इतना ही काम है कि वह बालक की सुप्त शक्तियों को विकसित और जाग्रत करदे, और जीवन में उन शक्तियों का उसे किस प्रकार और किस दिशा में उपयोग करना है इस बारे में वह बिल्कुल स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय, अथवा शिक्षा का कार्य उन सुप्त शक्तियों को जाग्रत और विकसित करने के साथ साथ यह भी है कि उन शक्तियों को कैसे काम में लाया जाय इस बारे में भी वह बालकों के समक्ष कुछ आदर्श रखे। जो लोग पहली बात को मानने वाले हैं, वे यह बात ठीक नहीं मानते कि बालकों की शिक्षा किसी भी आदर्श अथवा विचार-धारा विशेष को लेकर दी जाए। जो व्यक्ति दूसरे मत के हैं उनकी मान्यता यह है कि वह शिक्षा ही अधूरी है जो किसी आदर्श विशेष को लेकर नहीं दी जाती। दोनों पक्षों में से कौनसा पक्ष सही है अथवा दोनों में समझौता करने की आवश्यकता है—इसी प्रश्न पर अब हम विचार करेंगे।

जो लोग पहली बात को मानने वाले हैं उनकी सबसे बड़ी दलील यह है कि किसी भी संस्था अथवा व्यक्ति को इस बात का क्या अधिकार है कि वह अपनी मान्यताओं को बालकों पर थोपे? बालकों को इस बात की पूरी आज़ादी

होनी चाहिये कि जीवन सम्बन्धी आदर्श और सिद्धान्त वे अपने लिए स्वयं पसन्द करलें। शिक्षा का काम तो केवल इतना ही है कि वह बालक में मौजूद शक्तियों को पूरी तरह से विकसित करदे, और फिर जीवन में अपना मार्ग चुनने के लिये उसे स्वतन्त्र छोड़ दे। ऐसी दशा में किसी भी शिक्षण संस्था के लिए यह उचित नहीं हो सकता कि वह केवल किसी एक विचारधारा को ही लेकर चले और बालकों को उसे ग्रहण करने के लिये विवश करे। इसके विपरीत शिक्षण संस्था में तो बालकों को इस बात की सुविधा होनी चाहिये कि वे सब प्रकार के विचारों और मतों की जानकारी कर सकें ताकि उनमें से जो बातें उनको ठीक मालूम पड़े उनको वे स्वीकार करलें। यहां एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है। जब हम यह कहते हैं कि बालकों पर हमें अपने विचार नहीं लादने चाहियें तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जिन बातों को हम ठीक मानते हैं उनको हम बच्चों के सामने रखें ही नहीं इस बात का तो प्रत्येक व्यक्ति और संस्था को पूरा पूरा अधिकार है कि वह प्रत्येक बात बालक के सामने रखे और उसके पक्ष विपक्ष की बात बतलाने के बाद उस सम्बन्ध में जो भी अपनी राय हो वह भी प्रकट करे। किन्तु इसमे आगे उसे यह अधिकार, उक्त विचार को मानने वाले व्यक्तियों के अनुसार कदापि नहीं है कि वह बालक को अपनी स्वयं की मान्यता के अनुकूल ही विचार बनाने अथवा व्यवहार करने को विवश करे। बालक शिक्षक की कौनसी बातों को ग्रहण करता है, और कौनसी को नहीं, इसकी बालक को स्वतन्त्रता होनी चाहिये। उसकी इच्छा के विपरीत बालक से कोई बात मनवाना अथवा करवाना इस सिद्धान्त के अनुसार, बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक होगा। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में इस हद तक बालक को स्वतन्त्र छोड़ देना उचित होगा अथवा उसकी इस स्वतन्त्रता पर एक न एक मर्यादा लगाना आवश्यक है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें जीवन की वास्तविकताओं का ध्यान करना होगा। इस सम्बन्ध में हम निम्न पंक्तियों में कुछ चर्चा करेंगे।

बालक एक समाज का अंग होता है, एक ऐसे समाज का जिसकी अपनी

कोई व्यवस्था है और जिसके कुछ नियम। समाज की प्रतिनिधि संस्था राज्य का (यह प्रश्न हम छोड़ देते हैं कि वास्तविक प्रतिनिधित्व करने के लिये राज्य संस्था का कैसा रूप होना चाहिये।) इस बात का अधिकार होता है कि वह समाज की व्यवस्था को चलाने के कुछ कानून आदि बनाए। जिस प्रकार कि समाज के अन्य व्यक्तियों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य द्वारा बनाये गए कानून कायदों तक सीमित रहती है उसी प्रकार बालक की स्वतन्त्रता भी उनसे मर्यादित रहती है। अगर हम बालक की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से अपनालें तो हमें एक ऐसा नियम बनाना होगा कि राज्य के कोई भी कानून कायदे बालक पर लागू नहीं होंगे। परन्तु थोड़ी सी कल्पना करने से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि ऐसा करना अव्यवहारिक तथा समाज की सारी व्यवस्था के लिये कितना घातक सिद्ध होगा आज तक किसी भी शिक्षा शास्त्री ने शायद राज्य से बालको के लिए इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं चाही होगी, यद्यपि बालक को पूर्ण स्वतन्त्रता हो, इस सिद्धान्त के अनुसार तो ऐसी मांग उचित हो सकती है। इसका अर्थ यह है कि व्यवहार में तो इस सिद्धान्त को मानने वाले लोग भी इस हद तक अपने सिद्धान्त के साथ सम-झौता करना ही उचित समझते हैं। और इस प्रकार के समझौते का एक मात्र कारण यही हो सकता है कि यह मान लिया जाता है कि सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से कुल मिला कर राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है। इसी बात को दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार रख सकते हैं। अगर समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज़ हमें क़ायम रखनी है तो हमारे लिये यह लाज़मी है कि हम कुछ बन्धनों को भी स्वीकार करें। क्योंकि कोई भी समाज बिना ऐसा किये प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता। यहां हम उस विशेष परिस्थिति का विचार नहीं करते जबकि समाज के हित की दृष्टि से ही समाज व राज्य की वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन करना जरूरी मालूम पड़े। अतः ऊपर जो कुछ हमने लिखा उसका तात्पर्य यह है कि सारे समाज के हित की दृष्टि से समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये चाहे फिर वह बालक ही क्यों न हो यह आवश्यक है कि वह अपनी स्वतन्त्रता को एक सीमा में मर्यादित

रखे। अब जिस प्रकार कि राज्य को सब बात का अधिकार है कि वह सामाजिक हित की दृष्टि से अन्य व्यक्तियों के साथ साथ बालकों की स्वतन्त्रता को भी मर्यादित कर सकता है, ठीक उसी प्रकार किसी भी व्यक्ति अथवा शिक्षण संस्था के लिये यह उचित माना जाना चाहिए कि वह बालकों को भविष्य में योग्य नागरिक बनाने की दृष्टि से एक हद तक अपने माने हुए कुछ निश्चित आदर्शों और सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा दे सके। क्योंकि शिक्षा का सच्चा लक्ष्य ही यह है कि एक शिक्षित युवक अथवा युवती जीवन क्षेत्र में प्रवेश करने पर जिस समाज का वह अंग है उसको आगे ले जाने में सहायक हो सके। और इस दृष्टि से उसके अभिभावकों और शिक्षकों का यह अधिकार ही नहीं वरन् कर्त्तव्य भी है कि उसकी संपूर्ण शक्तियों के विकास में सहायक होने के साथ साथ वे उसके सामने कुछ ऐसे व्यवहारिक आदर्श रखें और उनके अनुसार आचरण करायें जो उनके अनुभव से सफल जीवन के लिये लाभदायक हो सकते हैं। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहां तक सिद्धान्त और व्यवहार का प्रश्न है शिक्षा अमुक आदर्श को सामने रख कर दी जाय यह उचित ही नहीं नितान्त आवश्यक भी है। वास्तव में विचारणीय प्रश्न तो यह है कि उस आदर्श और विचारधारा की क्या मर्यादायें हों जिनको आधार मान कर हम अपने बालकों को शिक्षा देना आवश्यक मानते हैं। दूसरे शब्दों में इसी प्रश्न को हम इस प्रकार रख सकते हैं। जहां समाज की आवश्यकतानुसार योग्य नागरिक उत्पन्न करने के लिए एक ओर यह जरूरी समझा जाता है कि इन भावी नागरिकों को अपने स्वतन्त्र विचार बनाने और उनके अनुसार बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल समाज और व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन करने का अवसर मिले। इस दूसरी बात को स्वीकार करने का अर्थ ही यह है कि हम मानते हैं कि प्रत्येक बालक का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी है और हित इसी में है कि उनके इस स्वतन्त्र व्यक्तित्व को पूरा पूरा विकसित होने का मौका मिले। एक आदर्श को लेकर शिक्षा देनी चाहिये और प्रत्येक बालक के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को बनने देने का पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिये, इन दोनों ही बातों में सामंजस्य किस प्रकार बैठाया जाय, यही प्रश्न प्रमुख है और

इसका ठीक ठीक उत्तर देना प्रत्येक शिक्षण संस्था का कर्त्तव्य है।

यदि हम चाहते हैं कि समाज का उत्तरोत्तर विकास कुण्ठित न हो, तो हमें समाज के जीवन में विचार स्वातन्त्र्य के मूल्य को पहिचानना और उसकी रक्षा करना होगा क्योंकि किसी भी एक व्यक्ति अथवा दल विशेष को इस बात पर मताग्रह रखने का अधिकार नहीं होना चाहिये कि जिन बातों और सिद्धान्तों को वह मानता है वे ही वास्तव में सही हैं और उनमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हो सकती। और यदि हम परिवर्तन और विकास की गुंजाइश को स्वीकार करते हैं, जैसाकि हमें करना चाहिए तो इसके लिये विभिन्न विचारों में संघर्ष होना आवश्यक है और इसलिए समाज में इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि विभिन्न विचारों को मानने वाले लोग अपने विचारों का आजादी के साथ प्रचार कर सकें। किन्तु समाज में विभिन्न विचार-धाराओं के जीवित रहने और विकसित होने के लिये यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षण संस्थाएं इस प्रकार के विचार-स्वातन्त्र्य की समर्थक हों। अस्तु किसी भी शिक्षण संस्था को इस बात का अधिकार तो होना चाहिए कि वह अमुक विचारधारा के आधार पर अपने विद्यार्थियों को शिक्षा दे, लेकिन विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये दो बातों का प्रत्येक शिक्षण संस्था को ध्यान रखना आवश्यक है। पहिली बात तो यह है कि शिक्षण संस्था स्वयं जिस विचारधारा को मान कर चलती हो उसके अतिरिक्त दूसरी विचारधाराओं को समझने और उनका अध्ययन करने का भी उसे अपने शिक्षार्थियों को पूरा पूरा अवसर देना चाहिए। किसी भी शिक्षण संस्था का वातावरण इतना संकुचित नहीं होना चाहिए कि उसकी चहार दीवारी में एक के अलावा दूसरी विचारधाराओं का प्रवेश ही सर्वथा निषेध हो। दूसरी बात यह है कि जिस विचारधारा को अमुक शिक्षण संस्था सही मानती हो उसको आग्रहपूर्वक वह अपने विद्यार्थियों के सामने अवश्य रखे परन्तु सदा इस बात का ध्यान रखा जाये कि उनमें किसी भी एक प्रकार के विचारों के प्रति कट्टरता और मताग्रह का भाव उत्पन्न न हो जिससे उनका दृष्टिकोण औरों के प्रति अत्यन्त अनुदार बन जाय और वे उन्हें हेय दृष्टि से देखने लगें। स्वतन्त्र व्यक्तित्व

और विचार-स्वातन्त्र्य की सबसे बड़ी पहिचान ही यह है कि प्रत्येक वस्तु और विचार के प्रति हमारा दृष्टिकोण न्यायोचित हो और उस पर हम सहानुभूति पूर्वक विचार कर सकें। जो बात विचार के बारे में है वही व्यवहार के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

सारांश यह है कि किसी भी शिक्षण संस्था को इस बात का अधिकार है कि वह अपने मान्य सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा का कार्य करे किन्तु विचार-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि वह शिक्षण संस्था उपरोक्त दोनों मर्यादाओं का समुचित पालन करे। जो शिक्षण संस्थाएं इसके विपरीत देश के युवकों और युवतियों में कट्टरता, मताग्रह और असहिष्णुता की मनोवृत्ति उत्पन्न करती हैं वे अवश्य समाज के लिये हानिकर हैं। अन्त में एक बात और है जिसका संकेत कर देना यहां आवश्यक होगा। सामाजिक विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में और देश और काल की विभिन्न सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के फलस्वरूप अलग अलग समय में अलग अलग विचारधाराओं का सामाजिक प्रगति की दृष्टि से मूल्य और महत्त्व होता है। अतः जो शिक्षण संस्था सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अनुकूल विचारधारा को लेकर चलने का प्रयत्न करती है वह उस हद तक समाज के विकास में सहायक होती है।

: २ :

शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त

प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में उचित शिक्षा की व्यवस्था करना अत्यन्त आवश्यक है। इससे कोई भी व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता। शिक्षा का सवाल राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्ध रखने वाला एक तात्त्विक (Fundamental) सवाल है जिसका सही सही हल ढूंढ निकालना राष्ट्रीय उत्थान की प्रथम आवश्यकता है। ग़लत शिक्षा किसी देश के लिए कितनी घातक सिद्ध हो सकती है, इसका अनुमान हम अपने ही देश की हालत में भली प्रकार लगा सकते हैं। जो शिक्षा आज विदेशी हुकूमत की प्रेरणा से भारतीय स्कूलों और कालिजों में दी जा रही है उसका न कोई आदर्श है, और न जीवन की वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध। इसी का परिणाम है कि हमारा शिक्षित युवक वर्ग अपने आपको एक अत्यन्त विचित्र परिस्थिति में पाता है। न उसमें राष्ट्र-प्रेम है, और न स्वाभिमान। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण निराशा और भय का एक अजीब संमिश्रण है। दुनिया के सवालों से न उसे कुछ दिलचस्पी है और न उनको समझने और उनका मुकाबला करने की शक्ति। हमारे युवक वर्ग में इन पिछले वर्षों में जो कुछ जागृति के चिन्ह देखने को मिले हैं वह बावजूद उनकी शिक्षा के उस राष्ट्रीय चैतन्य का परिणाम हैं जो पिछले बीस सालों में विशेष रूप से देश में उत्पन्न हुआ है। और यही कारण है कि आज का जागृत भारत अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न का नये सिरे से हल निकालने के लिए तत्पर है। यहां हम इसी प्रश्न पर इस दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न करेंगे कि हमारी शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त क्या हों।

परन्तु उक्त प्रश्न का उत्तर देने से पहले 'शिक्षा से हमारा क्या अर्थ है' इसके बारे में हमको विचार कर लेना चाहिये। बहुत से लोग अब भी शिक्षा का सही सही अर्थ लगाने में बड़ी भूल करते हैं। वे यह मानते हैं कि पढ़ना और लिखना सीखना ही शिक्षा प्राप्त करना है। किन्तु शिक्षा की यह परि-

भाषा अत्यन्त अपूर्ण और संकीर्ण है। वास्तव में शिक्षा से हमारा तात्पर्य है किसी व्यक्ति की तमाम सोई हुई शक्तियों को जागृत करना तथा उनका विकास करना। दूसरे शब्दों में प्रत्येक स्त्री और पुरुष के सर्वश्रेष्ठ गुणों का पूरी तरह से विकास करना ही सच्ची शिक्षा है, ताकि उसकी सर्वाङ्गी उन्नति हो, और वह अपनी विकसित शक्तियों का अपनी और समाज की भलाई के लिये उपयोग कर सके।

शिक्षा का जो अर्थ हमने लगाया है, उससे दूसरा अर्थ लगाना गलत होगा। उस पर अगर हम तनिक ध्यान से विचार करें तो हम इस नतीजे पर पहुंचेंगे कि शिक्षा का आधार नीचे लिखे गये मूलभूत सिद्धान्तों पर होना आवश्यक है। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

(१) शिक्षा एक आदर्श विशेष (Ideology) को लेकर दी जाय।
(२) शिक्षा पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक हो।
(३) पाठ्यक्रम अपने निश्चित आदर्श और वैज्ञानिक पद्धति के अनुरूप हों।
(४) जिस वातावरण में शिक्षा दी जाय वह भी आदर्श विशेष के उपयुक्त हो।

अब हम उक्त सिद्धान्तों के विषय में एक एक करके संक्षेप में कुछ विचार करें।

शिक्षा का आदर्श शिक्षा का क्या आदर्श हो, यह प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व का है। जीवन सम्बन्धी कौन सा आदर्श हम अपने राष्ट्र के युवक और युवतियों में पैदा करना चाहते हैं यह सवाल कठिन अवश्य है किन्तु किसी भी सफल शिक्षा-योजना के लिये इसका उत्तर देना आवश्यक भी है। अगर हम इस सवाल पर इतिहास की दृष्टि से विचार करें तो देखेंगे कि मानव समाज में मनुष्य जीवन के आदिम काल को छोड़ कर जबकि आर्थिक वर्गों का जन्म नहीं हुआ था, प्रत्येक देश और काल में मुख्यतः दो वर्ग रहे हैं। एक वर्ग उन लोगों का; जिनके हाथ में समाज और राज्य की सत्ता केन्द्रित रही है, और जिनको शासक वर्ग के नाम से इतिहास जानता है, और दूसरा वर्ग जन-साधारण का; जो हमेशा शासक वर्ग द्वारा शासित और शोषित रहे हैं। शासक वर्ग ने अपनी सत्ता और अपने स्थायी स्वार्थों को क़ायम रखने के लिये हमेशा

देश की शिक्षा पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने की कोशिश की है। उन्होंने शासक वर्ग और शासित वर्गों के लिए शिक्षा के भिन्न-भिन्न आदर्श रखे, ताकि जहां शासक वर्ग में अपना अहंभाव बना रहे; देश पर शासन करना वे अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझें, वहां शासित वर्ग की विचारधारा भी इस प्रकार की बनाई जाए कि वे इस प्रकार शासित होने में ही अपना गौरव समझें, और उनमें कभी इस बात की कल्पना भी न हो सके कि उनको अपने मौजूदा बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये। यह ठीक है कि जब जब सामाजिक संगठन की आन्तरिक असंगतियां अपनी चरम सीमा पर पहुंची, तो समाज के शोषित और शासित वर्गों में नव चैतन्य उदय हुआ, और उन्होंने साहस और समझदारी के साथ अपने ऐतिहासिक कर्त्तव्य को पूरा किया। यही अब तक का मानव जाति के विकास का इतिहास है। शासक वर्ग ने शिक्षा के द्वारा अपने शासन और स्वार्थों की रक्षा करने के लिये बराबर कोशिश की है, इसके अनेकों उदाहरण हमें प्राचीन और मौजूदा जमाने के इतिहास में मिलते हैं। प्राचीन ग्रीस के इतिहास को ही लीजिये। वहां पर गुलामों और उनके स्वामियों के लिए शिक्षा के अलग अलग स्कूल थे। जहां गुलामों को उनके स्कूलों में यह शिक्षा दी जाती थी कि वे अपनी गुलामी से ही संतुष्ट रहें, वहां स्वामियों में यह विचार भरा जाता था कि सभ्यता के विकास के लिये दास प्रथा का होना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि अरस्तू (Aristotle) जैसे महान् दार्शनिक ने भी दास-प्रथा को समाज के लिए आवश्यक बताया। इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय दास प्रथा अनिवार्य थी। आज यूरोप के भिन्न-भिन्न प्रजातन्त्रवादी कहे जाने वाले देशों में भी मूलतः इसी बात को वैज्ञानिक पूर्णता देने का प्रयत्न किया जा रहा है। इंगलैंड में यह बात विशेष रूप से हमको मिलती है। "वैज्ञानिक शासक साधारण जनता को एक प्रकार की शिक्षा देने की आयोजना करेगा, और दूसरी प्रकार की उन लोगों को, जिन्हें आगे चल कर वैज्ञानिक शक्ति पर आधिपत्य क़ायम करना है (शासक वर्ग)। साधारण स्त्री पुरुष से यह आशा रखी जायगी कि वह आज्ञाकारी, मेहनती, समय के पाबन्द, विचारहीन और

संतोषी हो। इन गुणों में सम्भवतः संतोषी होना सबसे आवश्यक गुण माना जायेगा। उक्त पंक्तियों में संतोषी होने पर इतना ज़ोर दिया गया है, यह समझना कठिन नहीं। असंतोष क्रान्ति की पहली अवस्था है, और इसलिए स्वभावतः शासक वर्ग हमेशा इस बात का प्रयत्न करेंगे कि जनता में असंतोष न हो, किन्तु विचित्र बात यह होती है कि उनका आचरण हमेशा आन्तरिक असंगतियों के कारण ऐसा बन जाता है कि वह असंतोष का कारण बने। अगर हम उन देशों का उदाहरण लें जहां शासन सूत्र किसी एक अधिनायक (Dictator) के हाथ में है जैसा कि इटली और जर्मनी में है, या किसी फ़ौजी गुट्ट के हाथ में, जैसाकि आज जापान में पाया जाता है, तो हम यही देखेंगे कि उन देशों की सरकारों का अपने अपने राष्ट्र की शिक्षा पर पूरा नियंत्रण है, और उस नियंत्रण का एक मात्र लक्ष्य मौजूदा शासक वर्ग के स्वार्थों और उसकी सत्ता की रक्षा करना है। इसी प्रकार नियंत्रण रूस में भी पाया जाता है। परन्तु भेद इतना ही है कि जहां रूस की सरकार आम जनता के हितों की रक्षक है, और इस वजह से उसका नियंत्रण जनता के हित में है तथा जर्मनी अथवा जापान की सरकारें आम जनता का शोषण करने वाली होने के कारण, उनका नियंत्रण आम जनता के हित के ख़िलाफ़ जाता है। जर्मनी में 'शिक्षा' के सम्बन्ध में लिखते हुए हम्बर्ग के सीनियर इन्स्पेक्टर ऑफ़ स्कूल्स, डाक्टर मुहे (Doctor Muehe) लिखते हैं:—

"Education in New Germany is in every respect based on nationalist conception of culture-no matter in what sphere. In all educational institutions from the kindergarten to the University, activity centres on training and developing the physical, ethical and mental forces toward 'a zoon politi kon' along natural lines, whose characteristid feature is national fellowship under which both men and women alike are looked upon as 'political soldiers'."

"नवीन जर्मनी में शिक्षा के हर एक अंग का आधार संस्कृति संबन्धी राष्ट्रीय समाजवादी (नाज़ीवादी) विचारधारा है। किन्डर गार्टन से लगा कर यूनीवर्सिटी तक की तमाम शिक्षा संस्थाओं में प्राकृतिक ढंग से शारीरिक, नैतिक और मानसिक शक्तियों का इस प्रकार विकास किया जाता है कि एक 'राजनैतिक व्यक्ति' पैदा हो और जिसका मुख्य लक्षण उस राष्ट्रीय संगठन का निर्माण करना है जिसके अन्तर्गत स्त्री और पुरुष दोनों ही राजनैतिक सिपाही के रूप में देखे जाते हैं।"

इसी प्रकार अक्टूबर १८६० में जापान में शिक्षा की जो नीति अपनाई गई थी उसमें स्पष्ट शब्दों से यह बात कही गई कि शिक्षा का आदर्श ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करना है जो जापानी साम्राज्य की रक्षा करें और उसके पोषक हों। उस समय शिक्षा के सम्बन्ध में जो शाही फ़रमान (Imperial Rescript) निकाला गया था उसके ये शब्द उल्लेखनीय हैं:—

'Always respect the constitution and observe the laws, Should emergency arise offer yourself courageously to the state; and thus guard and maintain the prosperity of our Imperial throne coeval with heaven and earth."

"शासन विधान की हमेशा इज्जत करो कानूनों का पालन करो, अगर मौक़ा आये तो साहस के साथ अपने आपको राज्य के अर्पण करो; और इस प्रकार हमारे शाही सिंहासन की, जो स्वर्ग और पृथ्वी के समान है रक्षा करो और उसे कायम रखो।"

ऊपर जो कुछ हमने लिखा है उससे यह बात साफ़ हो जाती है कि अब तक प्रत्येक देश और काल में शासक वर्ग ने शिक्षा को अपने स्वार्थ और सत्ता की रक्षा का एक साधन बनाये रखा है, और उसका उपयोग अधिकांश जनता को आज़ाद होने से रोकने के लिये ही किया गया है। हालांकि, जैसा कि हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं, ऐतिहासिक आवश्यकता के कारण शासक वर्ग को अपने इस उद्देश्य में स्थायी सफलता नहीं मिली, और यही वजह है कि शासित

वर्ग समय समय पर शासक वर्ग के विरुद्ध क्रान्ति करने में सफल हुआ।

आज भी शिक्षा का आदर्श हमें उसी ऐतिहासिक आवश्यकता को ध्यान में रख कर तय करना होगा जिसके अनुसार मनुष्य का सारा सांसारिक और सामाजिक व्यवहार (Secular and social behaviour) निर्धारित होता है। भारतवर्ष के सामने इस समय ऐतिहासिक लक्ष्य अपनी आज़ादी हासिल करने का है। साथ ही हमारी आज़ादी का रूप केवल राजनीतिक ही नहीं होगा उसका आधार एक ऐसा सामाजिक संगठन भी होगा जिसके अन्तर्गत आज मनुष्य का मनुष्य के द्वारा होने वाले शोषण के लिये कोई स्थान नहीं होगा, और जिसकी बुनियाद पारस्परिक प्रेम और सहयोग के सिद्धान्तों पर होगी। अतः भारतवर्ष में हमको शिक्षा का आदर्श इसी ऐतिहासिक लक्ष्य के अनुरूप बनाना होगा। हमारी शिक्षा राष्ट्रीय होनी चाहिये जिसका आदर्श ऐसे युवक और युवतियां उत्पन्न करना होगा जो एक क्रान्तिकारी विचारधारा से प्रेरित हों और जो अपनी समस्त विकसित शक्तियों का अपनी अपनी व्यक्तिगत स्थिति और सुविधा के अनुसार उपयोग एक ऐसी समाज व्यवस्था को स्थापित करने से करें जिसका आधार उपरोक्त प्रेम और सहयोग के सिद्धान्त पर हो। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था में कोई भी मनुष्य दूसरे की मेहनत का बेजा लाभ नहीं उठा सकेगा, प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा अवसर मिलेगा, और एक मनुष्य व दूसरे मनुष्य में महज़ काम की वजह से दर्जे का कोई भेद नहीं रहेगा। इस प्रकार के समाज की स्थापना करना ही हमारी शिक्षा का आदर्श होना चाहिये।

शिक्षा-पद्धति—दूसरा प्रश्न शिक्षा-पद्धति का है। अगर शिक्षा से हमारा अभिप्राय प्रत्येक स्त्री और पुरुष की सर्वश्रेष्ठ शक्तियों का विकास करना है, तो यह अनिवार्य है कि हमारी शिक्षा-पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति के अभाव में हम बालकों का बड़ा भारी नुकसान कर सकते हैं, यह प्रत्येक अनुभवी शिक्षक जानता है। वही शिक्षा-पद्धति वैज्ञानिक कही जायगी जो सर्वथा मनोविज्ञान के असूलों के अनुसार हो। इस सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञान हमको यह बतलाता है कि किसी भी प्रकार के हाथ के

काम के द्वारा जो शिक्षा दी जायगी वही सर्वश्रेष्ठ होगी। वर्धा शिक्षा-योजना इस तथ्य को स्वीकार करती है और यही कारण है कि उसमें शिक्षा-क्रम को किसी ऐसे उद्योग के चारों ओर केन्द्रित करना अनिवार्य माना गया है जिसमें शिक्षादायिनी शक्ति (Educative potentialities) यथेष्ट मात्रा में पाई जाती हो। यह वैज्ञानिक पद्धति हमारे उस आदर्श के भी सर्वथा अनुकूल है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। अगर हम चाहते हैं कि मनुष्य और मनुष्य के दर्जे (Status) में कोई भेद-भाव केवल कार्य की भिन्नता के कारण ही न रहे, अगर हम चाहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य शारीरिक मेहनत के महत्त्व को (Dignity of labour) समझे और उसकी कद्र करे, तो यह लाजमी है कि शिक्षा और शारीरिक कार्य का सम्बन्ध विच्छेद न किया जाए। मनुष्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति को बिल्कुल ही न पनपने दिया जाय कि वह किसी भी काम को करना अपनी शान के विरुद्ध समझे। कोई भी कार्य हो, उसे उसको इज्जत की निगाह से देखने का आदी होना चाहिए, और उसके मन में इस भाव के लिये तनिक भी स्थान नहीं होना चाहिए कि अमुक काम को करने वाला उससे कम दर्जे का आदमी है। यह सब तब ही हो सकता है जब मनुष्य की अपने शिक्षा-काल में हाथ से काम करने की आदत डाली जाय। अतः जो शिक्षा-पद्धति वैज्ञानिक है वह हमारे आदर्श के भी सर्वथा अनुरूप है, यह बात इससे साफ़ हो जाती है।

यहां एक बात की ओर ध्यान आकर्षित कर देना आवश्यक है। बहुत से लोगों का यह ख़याल है कि उद्योग के द्वारा शिक्षा देने का अर्थ यह है कि तमाम जरूरी विषयों का ज्ञान, किसी एक उद्योग के द्वारा जो इसके लिए चुना जाय, कराया जाना आवश्यक है और इस वास्ते वे यह शंका उत्पन्न करते हैं कि यह कैसे सम्भव हो सकता है कि किसी एक उद्योग के द्वारा तमाम आवश्यक विषयों का ज्ञान कराया जाय। परन्तु इस प्रकार की शंका के मूल में 'उद्योग के द्वारा शिक्षा' का सही सही अर्थ नहीं समझना है। इस सम्बन्ध में श्री विनोबाजी के यह शब्द विचारणीय हैं कि "उद्योग द्वारा शिक्षा का मानी यह नहीं है कि सब ज्ञान उद्योग से देना है। लेकिन जिस तरह कुंजी से हम ताला

खोलते हैं उसी तरह उद्योग के द्वारा जीवन खोलना है। यही उद्योग द्वारा शिक्षा के संक्षेप में मानी हैं। इसलिये जीवन से संबंधित हर एक विषय हमारी शिक्षा में आ सकता है। उसको कृत्रिमता से उद्योग से जोड़ने की कोई जरूरत नहीं है।" विनोबाजी के उपरोक्त शब्दों का अर्थ यह है कि शिक्षा के बहुत से ऐसे विषय होंगे जिनकी शिक्षा जीवन की वास्तविक घटनाओं के द्वारा दी जायगी, और उनको किसी उद्योग से ज़बरदस्ती जोड़ने का प्रयत्न करना ग़लती होगी। पाठ्यक्रम बनाते समय भी, जैसाकि हम आगे चल कर देखेंगे, इस तथ्य का ध्यान रखना आवश्यक है।

पाठ्यक्रम—शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला तीसरा प्रश्न पाठ्यक्रम का है। वही पाठ्यक्रम अच्छा समझा जा सकता है जो हमारे आदर्श के अनुकूल हो और साथ ही जो वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति के भी अनुरूप हो। पहले हम पाठ्यक्रम और शिक्षा-पद्धति के आपसी सम्बन्ध पर ही कुछ विचार करेंगे।

शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में लिखते हुए हम यह संकेत कर चुके हैं कि सच्ची शिक्षा जीवन की वास्तविकताओं से अलग नहीं रखी जा सकती। पाठ्यक्रम इस प्रकार का होना चाहिए कि हमारे स्कूल-कार्य, प्रयोग और खोज के स्थान बन सकें और आज की तरह चन्द उधार ली हुई, ऐसी बातों को विद्यार्थी के मस्तिष्क में भरने के स्थान न रहें, न जिनका आपसी सम्बन्ध ही स्पष्ट है और न जिनका जीवन के सवालों से ही कोई सम्बन्ध जान पड़ता है। अतः पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिये और उसका विभाजन इस प्रकार वैज्ञानिक ढंग से होना चाहिये कि पाठ्यक्रम के एक भाग को पूरा कर लेने के बाद विद्यार्थी अपने वातावरण और जीवन की समस्याओं को पहले की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझ सके और वातावरण पर उसकी प्रतिक्रिया अधिक सजीव और चेतनापूर्ण हो। अतः पाठ्यक्रम का सम्बन्ध जैसाकि वर्धा शिक्षा-योजना में स्वीकार किया गया है, एक उद्योग विशेष के अलावा विद्यार्थी के प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण से भी होना आवश्यक है। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में शिक्षक की कार्य-पद्धति का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक के लिये हर समय जागरूक रहने की जरूरत है ताकि शिक्षा-क्रम में जान आये

और वह विद्यार्थियों में दिलचस्पी पैदा कर सके।

पाठ्यक्रम से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा पहलू यह है कि जो भी ज्ञान विद्यार्थी वर्ग को दिया जाय वह देश की सभ्यता, संस्कृति और हमारे स्वाभिमान के अनुरूप हो। उससे हमारे हृदय में आत्म-स्वावलम्बन, आत्म-विश्वास और राष्ट्र-प्रेम के भाव पैदा होने चाहिये।

हमारे स्कूलों में जो पाठ्यक्रम आज चलता है वह उपरोक्त दोनों ही दृष्टि से निकम्मा है। जो पाठ्यक्रम बनाया गया है उसमें वैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है। पाठ्यक्रम के विभिन्न भागों से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता, न उसका क्रम दर्जेवार वैज्ञानिक है, और वह जीवन की वास्तविकताओं से अत्यन्त परे है। इसके लिये एक यही उदाहरण काफी होगा कि स्कूलों के पाठ्यक्रम में नागरिक शास्त्र (Civics) जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को कोई स्थान नहीं है और बहुत सी ऐसी बातें भी हमारे पाठ्यक्रम में मौजूद हैं जिनका जीवन की वास्तविकताओं और परिस्थितियों (Life situations) से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार बहुत से विषयों सम्बन्धी जो ज्ञान हमारे स्कूलों और कालिजों में आज दिया जाता है वह न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ग़लत होता है, बल्कि हमारी संस्कृति और सभ्यता तथा हमारी राष्ट्रीय भावना के भी सर्वथा प्रतिकूल होता है। जिस तरह का इतिहास हमारे स्कूलों में आज पढाया जाता है वह इस बात का एक अत्यन्त प्रज्वलंत उदाहरण है। अतः यह आवश्यक है कि हमारा पाठ्यक्रम वैज्ञानिक शिक्षा-पद्धति के सर्वथा अनुरूप और हमारे आदर्शों का पोषक हो। जीवन की तमाम समस्याओं का प्रत्येक पहलू और दृष्टिकोण से ज्ञान करवाना उस पाठ्यक्रम का एक आवश्यक अङ्ग होना चाहिये। इस दिशा में हमारे कालिजों का पाठ्यक्रम कितना अपूर्ण है इसका अनुमान इसी एक बात से लगाया जा सकता है कि अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र का अध्ययन कराते समय भी विद्यार्थियों को जीवन की आधुनिक समस्याओं की ओर से जैसे समाजवाद और फ़ासिस्टवाद, सर्वथा अनभिज्ञ रखा जाता है।

वातावरण का सवाल— शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला चौथा और

अन्तिम सवाल उपयुक्त वातावरण का है। उपयुक्त वातावरण के अभाव में बड़े से बड़ा आदर्श और वैज्ञानिक से वैज्ञानिक पद्धति बेकार साबित हो सकती है। वातावरण में केवल स्कूल के अन्दर के वातावरण का ही समावेश नहीं होता, उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न घर और समाज के वातावरण का है, जिसका विद्यार्थी पर स्कूल के वातावरण से भी अधिक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि विद्यार्थी का अधिकांश समय स्कूल के बाहर भी व्यतीत होता है और चूंकि घर और समाज के वातावरण से न तो स्कूल ही पूर्णतया अलग रह सकता है और न उसके लिये बाहरी वातावरण पर आवश्यक नियंत्रण स्थापित करना सम्भव है. उपयुक्त वातावरण पैदा करने का सवाल एक प्रकार से सब सवालों से भी अधिक पेचीदा है।

स्कूल के वातावरण पर अध्यापकों के व्यक्तिगत जीवन का बहुत असर पड़ता है। विद्यार्थियों में अनुशासन, सेवावृत्ति, साहस, विनम्रता और स्पष्टवादिता आदि गुणों को व्याख्यानों और पुस्तकों द्वारा पैदा नहीं किया जा सकता। इसके लिये तो आवश्यकता इस बात की है कि उनका रोज़मर्रा का जीवन ही इस प्रकार ढाला जाय कि उनमें इन गुणों का विकास हो सके। अगर स्कूल के बाहर के वातावरण पर अध्यापकों का प्रभाव न पड़ सके, तो उन्हें अपने निजी आचरण से और व्यवहार से कम से कम स्कूल का वातावरण तो ऐसा शुद्ध बना देना चाहिये कि उसके असर से विद्यार्थी का बचना संभव न हो सके। जो बात उपरोक्त गुणों के बारे में कही गई है, यही चरित्रगठन से सम्बन्ध रखती है। अध्यापकों को इस मामले में अत्यन्त जागरूकता से काम लेना चाहिये और विद्यार्थी के व्यवहार में उनको अगर किसी भी समय अनियमितता, अनुशासन का अभाव, सहयोग, सेवा और सुरुची (Decency) की कमी दीख पड़े तो उन्हें उसी समय विद्यार्थी को सचेत करना चाहिये। इन बातों की ओर ध्यान न देना बहुत बुरा साबित हो सकता है। विद्यार्थियों का रहन-सहन और आदतें इस प्रकार की होनी चाहिये कि वे कठिन से कठिन परिस्थिति का सामना करने में असमर्थ न हों। उनके व्यवहार में यथासम्भव भ्रातृ-भाव की प्रचुरता और अहंभाव का अभाव होना जरूरी है।

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं स्कूल के बाहर के वातावरण का भी विद्यार्थी पर काफी असर पड़ता है और इस वास्ते अपने निश्चित आदर्श के उपयुक्त समाज में भी वातावरण उत्पन्न करना आवश्यक है। यह कार्य संगठित रूप से करना न तो स्कूल का काम ही है और न स्कूल के लिये सम्भव ही है। किन्तु बाहरी वातावरण से पैदा होने वाली कठिनाई को हल करने के लिये अध्यापकों के सामने दो मार्ग हैं।

पहला मार्ग तो उनके सामने यह है कि वे विद्यार्थियों के माता-पिता से अपना सम्पर्क व्यक्तिगत रूप से भी क़ायम किया जा सकता है और एक संस्था के द्वारा इस प्रकार का सम्पर्क स्थापित करना अधिक सुविधाजनक और लाभ-दायक सिद्ध होगा। इस कार्य के लिये अध्यापकों और संरक्षकों की एक संस्था यदि स्थापित की जाये, जो समय पर शिक्षा सम्बन्धी उन प्रश्नों पर विशेष रूप से विचार करे जिनका सम्बन्ध बाहरी वातावरण और सामाजिक जीवन से अधिक है, तो वह, लेखक का विश्वास है, कि इस दिशा में कुछ न कुछ सफलता अवश्य प्राप्त कर सकेगी।

दूसरा रास्ता अध्यापकों के लिये यह है कि वे विद्यार्थियों से निकट के और व्यक्तिगत सम्बन्ध में आयें और उनकी कमियों पर व्यक्तिगत तौर से सहानुभूति के साथ ध्यान दें और उनको पूरा करने का प्रयत्न करें। इस कार्य के लिये अध्यापक में विद्यार्थी के व्यक्तिगत जीवन से दिलचस्पी होने के अलावा इस बात की भी ज़रूरत हो कि वह व्यक्तिगत स्वभाव को समझने और उसे सुधारने की कला में कुशल हो। अनुभव और लगन से यह गुण उत्पन्न करना कठिन नहीं होगा।

शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाले उक्त सिद्धान्तों का यदि प्रत्येक शिक्षा संस्था में आवश्यक ध्यान दिया जाय तो हमारी शिक्षा का प्रश्न हल हो सकता है। पर यह सवाल ऐसा नहीं कि प्रत्येक शिक्षा संस्था इसको अलग अलग से हल करे। उक्त सिद्धान्तों के आधार पर राष्ट्र भर के लिये एक विस्तृत योजना बनाना आवश्यक है जिसके अनुसार राष्ट्र की सारी शिक्षा संस्थाओं का संचालन हो। वर्धा-शिक्षा योजना भारतवर्ष में इस प्रकार का पहला प्रयत्न है और

हमें आशा है कि यह हमारे राष्ट्र की एक बड़ी कमी को, जैसे जैसे इसका विकास होगा पूरा करने में समर्थ होगी। इस योजना का आधार सही उसूलों पर है, इससे कोई शिक्षा-शास्त्री इन्कार नहीं कर सकता।

इन पंक्तियों को समाप्त करने के पहले इस सम्बन्ध में हमारे विद्यालय की क्या स्थिति है, इसका संक्षेप में उल्लेख कर देना अनुचित न होगा।

हमारा विद्यालय स्त्री-शिक्षा के एक आदर्श विशेष को लेकर चलने का प्रयत्न कर रहा है। इस आदर्श का आधार राष्ट्र-प्रेम और समाज संगठन के सही उसूलों पर है जो समाज में स्त्री का क्या स्थान हो, इस सम्बन्ध में एक अपनी खास कल्पना रखता है और जो परिस्थिति और अनुभव के साथ बराबर विकसित होती रहेगी।

शिक्षा-पद्धति और पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में साधन और सुविधाओं के अभाव में अभी तक हमारी स्थिति संतोषप्रद नहीं है। कई परिस्थितियों के कारण वर्धा-योजना को इच्छा होते हुए भी हम अपनाने में अभी तक असमर्थ रहे हैं। इन दोनों कमियों को हम पूरी ज़िम्मेदारी के साथ अनुभव करते हैं और उनके महत्त्व का भी हमको ध्यान है और हमें आशा है कि हमारी यह जागरूकता शीघ्र ही हमारी इन कमियों को हटाने में सहायक होगी। हम स्वीकार करते हैं कि वैज्ञानिक पद्धति और पाठ्यक्रम के अभाव में हमें अपने आदर्श की पूर्ति में भी काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा और यह सबसे जबरदस्त कारण है जिसकी वजह से हम अपनी इन कमियों को शीघ्र से शीघ्र पूरी करने की चेष्टा करेंगे।

वातावरण के सम्बन्ध में हमारी स्थिति अधिक सन्तोषजनक है, यद्यपि उन्नति के लिये अभी काफ़ी गुंजाइश है और सदा किसी हद तक यह गुंजाइश रहेगी। छात्राओं का रहन-सहन और उनका आपसी व्यवहार ऐसा है कि वे आगे चल कर जीवन का साहस के साथ सामना कर सकें और समाज और देश से उनको प्रेम हो ताकि वे उनकी यथा शक्ति सेवा कर सकें। खाने पीने और पहनने में स्वास्थ्य और सफाई का ध्यान रखते हुए इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि वह भारतीय और विशेषतया राजस्थान की आर्थिक परिस्थिति के अनुरूप हो।

अध्यापकों और छात्राओं में व्यक्तिगत सम्पर्क जो अपनी विशेष नियमितता और सीमा को लिये हुए है, पाया जाता है और छात्राओं की व्यक्तिगत बातों पर ध्यान देने का प्रयत्न किया जाता है। अध्यापकों और छात्राओं के संरक्षकों में अधिक निकट का सम्पर्क क़ायम करने की बात भी विचाराधीन है।

अन्त में अपने सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि हमारा मक़सद सही है और हम सचाई के साथ उस पर चलने की कोशिश कर रहे हैं, तथा अपनी कमियों के बारे में हम हमेशा सचेत रहना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। हमें विश्वास है हमारा प्रयत्न सफल होगा।

: ३ :

शिक्षा-सम्बन्धी कुछ प्रश्न

आज संसार के सामने एक ही महत्वपूर्ण प्रश्न है। वह है विश्व शान्ति का प्रश्न। पिछले तीन वर्षों से एक राष्ट्र जिस पशुता और निर्दयता के साथ दूसरे राष्ट्र का संहार करने में लगा हुआ है, उसका जब इतिहास लिखा जायगा तो आने वाली पीढ़ियों की दृष्टि में हमारी इस सभ्यता का, जिसका हमको आज तक इतना गर्व रहा है, क्या मूल्य होगा—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। अपने आपको सभ्य और उन्नत कहने वाला मनुष्य झूठे गौरव और स्वार्थ के वशीभूत होकर बर्बरता की किस चरम सीमा तक पहुंच सकता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज हमें देखने को मिल रहा है। यदि हम चाहते हैं कि भावी मानव-समाज इतिहास की इस पुनरावृत्ति से बचाया जा सके, तो हमें इसके उपायों के बारे में अभी से ही गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा। जीवन सम्बन्धी किसी समस्या पर विवेकपूर्वक विचार करने के लिये दो पहलुओं से उसका अध्ययन करना आवश्यक होता है। एक पक्ष तो उसकी वाह्य-परिस्थितियों से ताल्लुक रखता है और दूसरा मनुष्य की अपनी व्यक्तिशः स्थिति से। दूसरे शब्दों में इसी को हम अंग्रेजी में आब्जेक्टिव और सब्जेक्टिव पहलू भी कह सकते हैं। सारांश यह है कि अगर दुनिया में वास्तव में सुख और शान्ति स्थापित हो सकती है, तो वह इन्हीं दोनों प्रकार के प्रयत्नों द्वारा ही सम्भव हो सकेगी। एक ओर हमें समाज की सारी व्यवस्था में आधारभूत परिवर्तन करके उसे अधिक न्यायपूर्ण और सही सिद्धान्तों पर स्थापित करना होगा, तो दूसरी ओर हमें इस प्रकार का मनुष्य उत्पन्न करना होगा, जो अधिक न्याययुक्त और सही दृष्टि रखने वाला हो। पहला काम अर्थ शास्त्रियों और राजनीतिज्ञों का माना जा सकता है, तो दूसरा काम शिक्षा-शास्त्रियों का है। जब तक हमारे बालको और युवकों को हम सही आधार पर शिक्षा देने का प्रबन्ध नहीं कर सकते, तब तक विश्व-शान्ति स्थापित करने के हमारे सारे प्रयत्न

अपूर्ण और अधूरे ही रहेंगे। अतः शिक्षा का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। इन पंक्तियों में हम शिक्षा सम्बन्धी दो प्रमुख प्रश्नों पर ही विचार करेंगे।

पहला प्रश्न यह है कि क्या सिद्धान्त की दृष्टि से किसी विचारधारा-विशेष की मर्यादा को स्वीकार करते हुए शिक्षा देना सही है अथवा नहीं? इस बात से कोई भी व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता कि शिक्षा का उद्देश्य बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का इस प्रकार से विकास करना है कि वह समाज का एक उपयोगी अङ्ग बन सके। बालक की सुप्त शक्तियों को इस उद्देश्य से जाग्रत करने के कार्य में उसका सहायक और आवश्यकतानुसार पथ-प्रदर्शक होना ही शिक्षक का एकमात्र कर्तव्य है। अब प्रश्न केवल इतना-सा है कि बालक की सुप्त शक्तियों को किस प्रकार जाग्रत और विकसित किया जाय कि आगे चल कर वह एक योग्य और प्रगतिशील नागरिक बन सके? इस सम्बन्ध में लेखक की ऐसी मान्यता है कि बालक का सारा शिक्षण एक सही विचारधारा के आधार पर होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके विपरीत जो लोग ऐसा मानते हैं कि किसी भी शिक्षक अथवा शिक्षण संस्था को यह अधिकार नहीं है कि वह बालक को किसी एक निश्चित विचारधारा को लेकर ही शिक्षा देने का प्रयत्न करे, उनके विचार में थोड़ी-सी उलझन है। इस प्रश्न पर थोड़ा विचारपूर्वक अध्ययन करना उचित होगा।

हम बालक की सुप्त शक्तियों का विकास करना चाहते हैं—इसका अर्थ क्या? इस वाक्य की प्रथम और आवश्यक मर्यादा तो यह है कि हम उसमें उन शक्तियों का ही विकास चाहते हैं, जो नैतिक और सामाजिक हैं। अनैतिक और असामाजिक शक्तियों और प्रवृत्तियों का तो हमें दमन ही करना है। दूसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि विकास जब एक क्रिया का रूप ग्रहण कर लेता है तो उसमें किसी-न-किसी दिशा का होना आवश्यक ही नहीं है, दोनों का अविच्छेद्य सम्बन्ध भी है। एक के बिना दूसरा असम्भव है। उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। हम यह चाहते हैं कि बालक के स्वाभिमान और स्वातन्त्र्य-प्रेम की भावना जाग्रत की जाय और उसका विकास किया जाय। जहां तक यह बात अपनी कल्पना में है, वहां तक तो ठीक है; परन्तु

ज्यों ही आप इस भावना को जाग्रत और विकसित करने के लिये कुछ करना चाहेंगे, आपके सामने दिशा अथवा मार्ग का प्रश्न आ उपस्थित होगा। कारण स्पष्ट है। आप कोई भी क्रिया शून्य में नहीं कर सकते। यदि आप चाहते हैं कि बालक में स्वातन्त्र्य-प्रेम की भावना उत्पन्न हो, तो व्यवहार में आप उस बालक को स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले किसी भी काम तथा स्वतन्त्रता-विरोधी शक्तियों का समर्थन करने को नहीं कह सकते। यदि व्यवहार में आप यह सम्भव नहीं बना सकते, तो आप निश्चित रूप से मानिये कि बालक में स्वातन्त्र्य-प्रेम की भावना कदापि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यही बात और सम्बन्धों में भी लागू होगी। इसलिये यह तो असम्भव है कि कोई शिक्षक अथवा शिक्षण-संस्था बिना किसी विचार और उसके अनुरूप व्यवहार में क्या क्रम है, इसका निर्णय किये बिना ही शिक्षा का कोई कार्य कर सके। भिन्न भिन्न व्यक्तियों के विचारों में मतभेद हो सकता है और प्रत्येक को अपने-अपने विचार के बारे में एक-सा आग्रह रखने का भी पूरा-पूरा अधिकार है; परन्तु प्रत्येक का कोई-न-कोई विचार और उसके अनुकूल कार्य करने का निश्चय तो करना ही पड़ेगा। इसी को हम दूसरे शब्दों में विचारधारा के नाम से कह सकते हैं। अस्तु, इतना तो साफ है कि बिना किसी विचारधारा के आधार के शिक्षा देना असम्भव है। असली प्रश्न तो यह है कि शिक्षा की आधार भूत विचारधारा की मर्यादायें क्या होनी चाहिएं। इस सम्बन्ध में कुछ भी विचार करने के पहले यहां एक बात की ओर संकेत कर देना और आवश्यक है। बिना किसी विचारधारा के शिक्षा देने का कार्य न केवल व्यवहार में असम्भव है, परन्तु सिद्धान्तः अनुचित भी है। शिक्षक का यह कर्तव्य है कि अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर वह शिक्षार्थी का विचार और व्यवहार दोनों में ही मार्ग-प्रदर्शन करे। यह कह कर कि ऐसा करने से हम उसके व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास में बाधक होंगे इस दायित्व से बरी न तो हुआ जा सकता है और न होना उचित ही है। जो शिक्षण-संस्थायें इस बात का दावा करती हैं कि वे किसी एक विचारधारा पर जोर नहीं देतीं, उनके बारे में अगर बारीकी से अध्ययन किया जाय, तो यह जाहिर होते देर न लगेगी कि वे वास्तव

में उस विचारधारा की पोषक और समर्थक होती है होती हैं, जो समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग की विचारधारा है। हमारे देश में जो सरकारी और अर्द्ध-सरकारी शिक्षण-संस्थायें आज काम कर रही हैं, वे इस बात का जीवित प्रमाण हैं। अब हम इस प्रश्न पर संक्षेप में विचार करेंगे कि किसी भी विचारधारा की वास्तव में क्या मर्यादायें होनी चाहिए।

यदि हम चाहते हैं कि समाज का उत्तरोत्तर विकास कुण्ठित न हो, तो हमें समाज के जीवन में विचार स्वातन्त्र्य के मूल्य को पहचानना और उसकी रक्षा करना होगा, क्योंकि किसी भी एक व्यक्ति अथवा दल को इस बात का मताग्रह रखने का अधिकार नहीं होना चाहिये कि जिन बातों और सिद्धान्तों को वह मानता है, वे ही वास्तव में सही हैं और उनमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हो सकती। यदि हम परिवर्तन और विकास की गुंजाइश को स्वीकार करते हैं, जैसा कि हमें करना चाहिये, तो इसके लिये विभिन्न प्रकार के विचारों में संघर्ष होना आवश्यक है और इसलिये समाज में इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि विभिन्न विचारों को मानने वाले लोग अपने विचारों का आजादी के साथ प्रचार कर सकें। समाज में विभिन्न विचार-धाराओं के जीवित रहने और विकसित होने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षण-संस्थायें इस विचार स्वातन्त्र्य की पूर्ण समर्थक हों। अस्तु, जहां किसी भी शिक्षण संस्था को इस बात का अधिकार होना चाहिये कि वह अमुक विचार-धारा के आधार पर अपने शिक्षार्थियों को शिक्षा दे सके, वहां विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये दो बातों का ध्यान रखा जाना भी आवश्यक है। पहली बात यह है कि शिक्षण-संस्था स्वयं जिस विचारधारा को मानने वाली हो, उनके अध्यन करने का भी शिक्षार्थियों को पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिये। किसी भी शिक्षण-संस्था का वातावरण इतना संकुचित नहीं होनी चाहिये कि उसकी चहारदीवारी में एक के अलावा दूसरी विचारधाराओं का प्रवेश सर्वथा निषेध हो। दूसरी बात यह है कि जिस विचारधारा को अमुक शिक्षण-संस्था सही मानती हो, उसको वह अपने विद्यार्थियों के सामने आग्रह-पूर्वक रखे; परन्तु साथ ही यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि विद्यार्थियों में किसी एक प्रकार के

विचारों के प्रति कट्टरता और मताग्रह का भाव न उत्पन्न होने पाये और उनका दृष्टिकोण संकुचित और अनुदार न बन जाय। स्वतन्त्र व्यक्तित्व और विचार-स्वातन्त्र्य की सबसे बड़ी पहचान ही यह है कि प्रत्येक वस्तु और विचार के प्रति हमारा दृष्टिकोण न्यायोचित और सहानुभूतिपूर्ण हो। जो बात विचार के बारे में कही जा सकती है, वही एक हद तक व्यवहार के सम्बन्ध में भी लागू होती है। इतना अवश्य है कि व्यवहार के क्षेत्र में आखिर कुछ बातों का पालन तो अनिवार्य है। इस बात को समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि विचार के क्षेत्र मे अपेक्षाकृत कम स्वतन्त्रता व्यवहार के क्षेत्र में सम्भव है। सारांश यह है कि किसी भी शिक्षण-संस्था को इस बात का अधिकार है कि वह अपने मान्य सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करे; किन्तु विचार-स्वातन्त्र्य और व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि वह शिक्षण-संस्था उपर्युक्त दोनों मर्यादाओं का समुचित पालन करे। इसके विपरीत जो शिक्षण-संस्थायें देश के युवकों और युवतियों में कट्टरता, मताग्रह और असहिष्णुता की मनोवृत्ति उत्पन्न करती है, वे अवश्य समाज के लिये हानिकर हैं। इस विषय में एक बात की ओर संकेत करना और आवश्यक है। सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में और देश और काल की भिन्न-भिन्न सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण अलग-अलग समय में अलग-अलग विचार-धाराओं का सामाजिक प्रगति की दृष्टि से अलग-अलग मूल्य और महत्त्व होता है। जो शिक्षण संस्थायें सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अनुकूल विचार-धारा को लेकर चलने का प्रयत्न करती हैं, वे उसी हद तक समाज के विकास में सहायक होती हैं।

शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला दूसरा प्रश्न यह है कि शिक्षण-संस्थाओं पर नियन्त्रण होना चाहिये, तो किन मर्यादाओं के अन्तर्गत। यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, यह तो स्पष्ट ही है। इसका सही सही उत्तर देने के लिए कुछ आधारभूत बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होना नितान्त आवश्यक है।

इस विषय की पहली विचारणीय बात यह है कि हम संक्षेप में यह जान लें कि राज्य और उसका उद्देश्य क्या है और व्यवहार में उसकी पूर्ति कहां तक

होती देखी गई है। राज्य समाज का संगठित रूप है। उसका मान्य उद्देश्य समाज की इस प्रकार से सुचारू व्यवस्था करना है कि प्रत्येक नागरिक को अपने व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास करने के लिये सब आवश्यक सुविधायें और साधन प्राप्त हो सकें। सिद्धान्तः राज्य के उपर्युक्त उद्देश्य को राज्यशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी स्वीकार करेगा। परन्तु प्रश्न तो यह है कि व्यवहार में राज्य अपने इस उद्देश्य की पूर्ति वास्तव में कर पाता है अथवा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर मानव जीवन के विकास का आज तक का इतिहास स्पष्ट रूप से देता है और वह उत्तर यह है कि यद्यपि राज्य-संस्था की प्रतिष्ठा दार्शनिकों और राजनीति के पण्डितों ने उक्त उद्देश्य की शरण लेकर ही सर्वदा की है, फिर भी वस्तु-स्थिति और अब तक के इतिहास का निर्णय यही है कि राज्य ने हमेशा एक वर्ग संस्था का ही कार्य किया है। समाजवाद का यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त है। समाजवादी विचारों से मतभेद रखने वाले व्यक्ति चाहे इस तथ्य से इन्कार ही क्यों न करें, परन्तु यदि हम वैज्ञानिक और निष्पक्ष दृष्टि से वर्तमान और अतीत के इतिहास का अध्ययन करें, तो हम किसी अन्य परिणाम पर नहीं पहुँच सकते। जिस युग में समाज में किसी वर्ग का आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्व रहा है, उस काल की राज्य-संस्था हमेशा उस प्रभुत्वशाली वर्ग की अनुचरी के रूप में ही रही है। बिना इस कटु सत्य को स्वीकार किये हुए वर्तमान विश्व-अशान्ति और हिंसा-काण्ड को बुद्धि से समझ सकना असम्भव है। ऐसी दशा में हमें यह मंजूर करना ही होगा कि राज्य हमेशा उस वर्ग के हितों की रक्षा करने वाली संस्था रहा है, जो वर्ग समाज में प्रभुत्वशाली होता है। इस उद्देश्य को सामने रख कर ही राज्य ने बराबर यह प्रयत्न किया है कि समाज की शिक्षण-संस्थाओं की रीति-नीति पर उसका नियंत्रण रहे, ताकि वह आने वाली पीढ़ियों के विचारों को इस प्रकार से ढाल सके कि उनकी मनोवृत्ति मौजूदा समाज की व्यवस्था के प्रति विद्रोह की न हो। यह एक दूसरी और दिलचस्प तथा साथ ही शिक्षा-प्रद कहानी है कि राज्य अपने इस मनोरथ में न कभी पूर्णतया सफल हुआ और न आगे ही हो सकेगा। उसकी इस असफलता में ही मानव-प्रगति के इतिहास का स्रोत छिपा है और उसकी यह अस-

फलता ही मानव-जीवन की भावी प्रगति का कारण बनी रहेगी। राज्य ने इस प्रकार का प्रयत्न बराबर किया है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। प्राचीन ग्रीस और रोम के इतिहास को लीजिये। राज्य की सारी शक्ति दास-प्रथा को कायम रखने में ही लगी और अरस्तु जैसे महान् दार्शनिक ने भी यदि दास-प्रथा का समर्थन किया, तो केवल इसीलिए कि मध्यकालीन सामन्तशाही समाज-व्यवस्था में दास-प्रथा का एक अनिवार्य स्थान था और उस व्यवस्था को कायम रखना उस समय की राज्य-संस्था का उद्देश्य था। आज यूरोप के भिन्न-भिन्न प्रजातन्त्रवादी कहे जाने वाले देशों में भी मूलतः राज्य एक वर्ग-संस्था के रूप में ही कार्य करता है। पूंजीवादी व्यवस्था और सभ्यता को कायम रखना ही मौजूदा प्रजातन्त्रवादी शासन-प्रणालियों का एकमात्र लक्ष्य है। जर्मनी, इटली और जापान में भी शिक्षा पर आज राज्य का पूरा नियंत्रण है और यही बात रूस के सम्बन्ध में भी लागू होती है। 'जर्मनी में शिक्षा' पर लिखते हुए हम्बर्ग के सीनियर इन्सपेक्टर आव स्कूल्स डा० मुद्दे लिखते हैं:—

"नवीन जर्मनी में शिक्षा के हर एक अङ्ग का आधार संस्कृति-सम्बन्धी राष्ट्रीय समाजवादी (नाजीवादी) विचारधारा है। किण्डर गार्टन से लगाकर यूनीवर्सिटी तक की तमाम शिक्षा-संस्थाओं में स्वाभाविक ढङ्ग से शारीरिक, नैतिक और मानसिक शक्तियों का इस प्रकार विकास किया जाता है कि एक ऐसा 'राजनैतिक व्यक्ति' पैदा हो, जिसका मुख्य लक्षण उस राष्ट्रीय सङ्गठन का निर्माण करना है, जिसके अन्तर्गत स्त्री और पुरुष दोनों ही राजनीतिक सिपाही के रूप में देखे जाते हैं।"

इसी प्रकार अक्टूबर १८९० में जापान में शिक्षा की जो नीति अपनाई गई थी, उसमें स्पष्ट शब्दों में यह बात कही गई थी कि शिक्षा का आदर्श ऐसे लोग उत्पन्न करना है, जो जापानी साम्राज्य की रक्षा करें और उसके पोषक हों। उस समय शिक्षा के सम्बन्ध में जो शाही फरमान निकाला गया था, उसके ये शब्द उल्लेखनीय हैं:—

"शासन-विधान की हमेशा इज्जत करो, कानूनों का पालन करो, अगर मौका पड़े तो साहस के साथ अपने को राज्य के अर्पण करो; और इस प्रकार

हमारे शाही सिंहासन की, जो स्वर्ग और पृथ्वी के समान है, रक्षा करो और उसे कायम रखो।"

अतः यह स्पष्ट है कि सिद्धान्त में राज्य का उद्देश्य जो कुछ भी हो, व्यवहार में राज्य ने हमेशा उसी वर्ग का साथ दिया है, जिसका समाज में प्रभुत्व है। यदि शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण और हस्तक्षेप रहा है, तो उसका उपयोग भी इसी दृष्टि से किया गया है कि सारी शिक्षा का प्रभाव वर्तमान समाज-व्यवस्था के समर्थक उत्पन्न करने का ही हो। ऐसी दशा में शिक्षा अपने सही आदर्श से नीचे गिर जाता है। शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य में स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास करना है। शिक्षण-संस्थाओं का यह कर्तव्य है कि वे विचार-स्वातन्त्र्य की सदा रक्षा करें और विद्यार्थियों का इस प्रकार विकास करें कि वे किसी विचार अथवा वर्ग-विशेष से अनुचित ढङ्ग से प्रभावित हुए बिना सत्य के सच्चे शोधक बनने का प्रयत्न करें। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कि जिन व्यक्तियों पर शिक्षण-कार्य का दायित्व है, उनका अपना व्यक्तित्व अत्यन्त ऊंचा हो; साथ ही शिक्षण-संस्थाओं को यथासम्भव किसी वर्ग-विशेष के अनुचित प्रभाव से पृथक् रखा जाय। शिक्षकों के लिये तो यह आवश्यक है कि वे शिक्षा को अपने जीवन का उद्देश्य समझें, न कि जीविका कमाने का एक साधन-मात्र। ऐसा होने पर ही वे अपनी गुरुत्तर जिम्मेदारी के योग्य अपने-आपको प्रमाणित कर सकेंगे। तभी वे समाज में विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा कर सकेंगे और समस्त समाज के हित में जो भी आलोचना उन्हें राज्य अथवा अर्थ-वर्ग की करना आवश्यक जान पड़े, उसे वे बिना किसी सङ्कोच के कर सकेंगे। उनके लिए अर्थ का कोई मूल्य नहीं होगा। उनका जीवन सच्चे अर्थ में एक उपासक का जीवन होगा और अपने विषय की उपासना करना ही वे अपना परम कर्तव्य समझेंगे। भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों और उनके आश्रमों का यही आदर्श रहा होगा। जब तक हम समाज में शिक्षा के कार्य की फिर से इसी प्रकार की प्रतिष्ठा स्थापित नहीं कर देंगे, शिक्षा कार्य अपने सही उसूलों पर नहीं चल सकेगा। दूसरी आवश्यकता यह है कि शिक्षा पर राज्य नियन्त्रण का शिक्षण-नीति पर कोई प्रभाव न पड़े, इस

1509

बात की पूरी कोशिश की जाय। शिक्षण-नीति के सञ्चालन का भार समाज पर रहे। राज्य का कर्तव्य केवल इतना-सा रहे कि वह शिक्षा के लिये आवश्यक साधन का प्रबन्ध कर दे और साथ ही इस बात का नियन्त्रण रखे कि शिक्षा का कार्य गलत हाथों में तो नहीं चला जाता है। समाज को आज यह अनुभव करने की अत्यन्त आवश्यकता है कि जिस प्रकार स्वतन्त्र न्याय-विभाग किसी भी उन्नत और सभ्य राज्य के लिये अनिवार्य माना जाता है, उसी प्रकार स्वतन्त्र शिक्षा-विभाग भी सर्वथा अनिवार्य है। यह ठीक है कि जिसे हम स्वतन्त्र न्याय-विभाग मानते हैं, वह भी अधिकतर धनिक और प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों के संरक्षक का ही काम करता है। परन्तु फिर भी उसकी स्वतन्त्रता की आवश्यकता को तो हम मानते हैं। शिक्षा के बारे में तो वह आवश्यकता ही इस रूप में स्वीकार नहीं की जाती। इस बात को मानते हुए कि शिक्षण-संस्थायें आखिरकार एक-न-एक सीमा तक प्रभुत्वशाली वर्ग और राज्य-संस्था के थोड़े बहुत प्रभाव में रह ही सकती हैं, फिर भी यदि हम शिक्षा के प्रति अपने सारे दृष्टिकोण बदल दें, शिक्षक शिक्षा के कार्य को अपने जीवन की उपासना समझें और ऐसे व्यक्तित्व वाले लोगों के हाथों में ही समाज की शिक्षा का काम रहे, तथा राज्य और धनिक वर्ग का न्यूनतम हस्तक्षेप शिक्षा सम्बन्धी मामलों में रखा जाय, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारी शिक्षण-संस्थायें सच्चे अर्थ में विचार-स्वातन्त्र्य की रक्षा करने वाली साबित हो सकती हैं और समाज की शिक्षा सही आधार पर दी जा सकती है। यदि हम ऐसा कर सकते हैं. तो समाज की भावी प्रगति के मार्ग को एक सीमा तक अधिक सरल और नियमित बनाने में हम अवश्य ही सफल होंगे। वर्तमान अशान्ति और क्रान्ति के बाद जब हम मानव-समाज का नव-निर्माण करने लगें, तो हमें शिक्षा सम्बन्धी प्रश्न पर भी इस आधारभूत दृष्टि से अवश्य ही सोचना होगा। समाज के वर्तमान सङ्कट और पीड़ा का अन्त करने के लिये यदि समाज के सङ्गठन में मौलिक परिवर्तन करना आवश्यक है, तो साथ ही समाज में स्वतन्त्रता की ज्योति को सर्वदा प्रज्वलित रखने के लिये शिक्षा के प्रश्न को इस प्रकार हल करना भी उतना ही आवश्यकक समझा जाना चाहिये।

: ४ :

वर्धा शिक्षा-प्रणाली

आज हमारे देश के सामने अनेकों ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न हैं, जिनका राष्ट्र के पुनः उत्थान से घनिष्ट सम्बन्ध है, किन्तु इन सबमें प्रारम्भिक और अधिक तात्त्विक प्रश्न (Fundamental) एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली को जन्म देने का है, जो देश की असंख्य जन-संख्या को न केवल अशिक्षा, बल्कि कुशिक्षा और अज्ञान के मौजूदा अभिशाप से मुक्त कर सके। जो भारतवर्ष एक समय समस्त संसार की संस्कृतियों और उसके साहित्य का शिरोमणि रह चुका हो जो अपनी प्राचीन सभ्यता के लिए विश्व-विख्यात हो, उसी के ३७ करोड़ निवासियों में से केवल १० प्रतिशत साधारण रूप से लिखना-पढ़ना जानते हों, यह कितने दुःख और शर्म की बात है। किन्तु वस्तुस्थिति आज तो यही है और पूर्व इसके कि हम इस प्रश्न पर कुछ विचार करें, यह आवश्यक है कि हम देश में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के विषय में, उसके गुणों और दोषों के सम्बन्ध में, यथेष्ट जानकारी प्राप्त कर लें।

हमारे स्कूलों और कालेजों में जिस प्रकार की शिक्षा राष्ट्र के भावी निर्माताओं को आज दी जा रही है उसकी निरर्थकता को, तथा उससे होने वाली हानि को देश एक मत से स्वीकार कर चुका है। देश की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था, कांग्रेस २० वर्ष से मौजूदा शिक्षा-प्रणाली के विरुद्ध आवाज उठा रही है। अस्तु सबसे पहले हम वर्तमान प्रणाली की मुख्य-मुख्य कमजोरियों के विषय में संक्षेप में कुछ कहेंगे। मौजूदा शिक्षा प्रणाली के समस्त दुर्गुणों को समझने के लिये यह आवश्यक है कि जिस उद्देश्य से इसको जन्म दिया गया है हम उसको अच्छी तरह जान लें। जब ब्रिटिश हुकूमत ने मुल्क पर अपना कब्जा कर लिया और उन पर राज्य प्रबन्ध का उत्तरदायित्व आ गया, तो उनको देश के अन्दर एक ऐसी श्रेणी को उत्पन्न करना आवश्यक ज्ञात पड़ा, जो उनकी हुकूमत को चलाने में सहायक हो सके, और जिसमें

राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्र-गौरव और आत्म-सम्मान का लवलेश भी न हो; एक ऐसी श्रेणी, जिसका दृष्टि-बिन्दु देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की ओर न होकर पाश्चात्य और विदेशी सभ्यता की श्रेष्ठता को स्वीकार करना ही हो। सारांश यह है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद को देश में अपनी जड़ मजबूत बनाने के लिये जहां अपने अधीन ऐसी प्रतिक्रियावादी संस्थाओं को जन्म देने और केन्द्रित करने की आवश्यकता पड़ी, जैसे जमींदार और राजा-महाराजा, जो समय आने पर राष्ट्र की प्रगति का विरोध करने में अपने गौराङ्ग प्रभुओं का साथ देने के लिये सदा तत्पर रहें, वहां उसको (अंगरेजी साम्राज्यवाद) भारत वासियों ही की एक ऐसी पिछलग्गू और जी-हुजूरों की कृपाजीवी जमाअत तैयार करना भी अनिवार्य हो गया, जिनका अपना निजी न कोई अस्तित्व हो और न कोई आकांक्षा, और जो वफादारी से हुक्म बजाना ही अपने जीवन का एक-मात्र उद्देश्य समझें, तथा जो, यदि कभी ऐसा सम्भव हो सके कि राष्ट्र की बागडोर उसके सच्चे सेवकों के हाथ में आ जाये (जैसा कि आज मुल्क के ७ प्रान्तों में हो सका है) तो, अपने पुराने प्रभुओं की मर्जी के विरुद्ध, अपने नये स्वामियों को कदापि सहयोग न देवें। यही एकमात्र लक्ष्य जिसे सामने रख कर अंगरेजी हुकूमत ने मौजूदा शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया और ऊंचे से ऊंचे अखिल भारतीय (?)-सिविल (?)-सर्विस (?)-एजूकेशनल और मैडिकल सर्विस (?) के बड़े से बड़े पदाधिकारियों से लेकर एक आनरेरी मजिस्ट्रेट (?), कचहरी का एक क्लार्क, पुलिस का एक सिपाही और गांव का एक पटवारी तक इसी प्रणाली का परिणाम है। और मौजूदा शिक्षा-प्रणाली का यही सबसे तात्विक दोष (Fundamental defect) है कि उसका उद्देश्य देश के नवयुवकों में किसी विशेष आदर्शवाद को, जो देश की वर्तमान आवश्यकताओं और परि-स्थितियों से तथा उसकी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति से मेल खाता हो, उत्पन्न करना नहीं है। अस्तु, हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली उन तमाम कुपरिणामों से युक्त है, जो कि एक आदर्शहीन व्यवस्था में सम्भव हो सकते हैं। स्कूल और कालेजों से निकले हुए नवयुवक एक खर्चीली शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी सच्चे नागरिक नहीं बन पाते हैं और न इस योग्य ही होते हैं कि वे

अपने जीविकोपार्जन का भार अपने ऊपर ले सकें। देश में शिक्षित वर्ग की बेकारी ने जो उग्र रूप धारण कर लिया है, वह इसका एक प्रामाणिक उदाहरण है। मौजूदा शिक्षा-प्रणाली का यही दूसरा बड़ा दोष है कि साधारण शिक्षा के अतिरिक्त देश के नौजवानों को अन्य कोई ऐसा विषय या हुनर नहीं सिखाया जाता, जिसके द्वारा वे अपने जीवन में स्वावलम्बी बन सकें। तीसरा मुख्य दोष इस प्रणाली का नौजवानों में राष्ट्रीय मनोवृत्ति का दमन करना और उसके स्थान में एक दास और देश-विरोधी प्रवृत्ति को उत्पन्न करना है। स्कूलों कालेजों और विश्वविद्यालयों का वातावरण, और मौजूदा कार्यक्रम, जिसका एक मात्र लक्ष्य आरम्भ से भारतीय विद्यार्थी के मस्तिष्क में देश और उसकी सभ्यता तथा इतिहास के प्रति घृणा और पाश्चात्य सभ्यता की उच्चता उत्पन्न करना है इस स्थिति के लिये बहुत कुछ जिम्मेवार हैं। मौजूदा प्रणाली के सम्बन्ध में डा० जकीर हुसेन-रिपोर्ट में की गई आलोचना का कुछ अंश उद्धृत कर देना यहां अनुचित न होगा। "In the past it has failed to meet the most urgent and pressing needs of national life, and to organise and direct its forces and tendencies into proper channels To-day when quick and far-reaching changes are reshaping both national and international life and making new demands on the citizens, it continues to function listlessly and apart from the real currents of life unable to adapt itself to the changed circumstances. It is neither responsive to the realistic elements of the present situation nor inspired by any life-giving and creative ideal. It does not train individuals to become useful productive members of society. It has no conception of the new co-operative order which education must help to bring into existence." "अब तक यह (शिक्षा-

प्रणाली) राष्ट्रीय जीवन की बड़ी से बड़ी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकी है। आज जबकि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में लगातार महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं और नागरिकों से नयी-नयी मांगें की जा रही हैं, वह उसी प्रकार जीवन के वास्तविक प्रभाव से सर्वथा अलग एक निर्जीव वस्तु की भांति कार्य कर रही है और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल बनने में सर्वथा अयोग्य है। न तो यह मौजूदा हालत की वास्तविकता से मेल खाती है और न किसी जीवनदायिनी शक्ति और रचनात्मक आदर्श से प्रेरित है। यह व्यक्तियों को समाज के योग्य और उत्पादक सदस्य बनने की शिक्षा नहीं देती। इसको उस नयी सहकारी सामाजिक व्यवस्था (Co-operative social order) का कोई ज्ञान नहीं है जिसको स्थापित करने में शिक्षा का सहायक होना आवश्यक है।"

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी मौजूदा शिक्षा प्रणाली एकदम दूषित है और भावी राष्ट्रीय निर्माण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके स्थान पर एक सर्वथा नवीन प्रणाली को जन्म दिया जावे, जो राष्ट्र की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

राष्ट्र के एकमात्र कर्णधार महात्मा गांधी के सामने यह प्रश्न आज से नहीं, पिछले २० वर्षों से उपस्थित था और वही इसको हल करने के लिए एक व्यवहारिक योजना का निर्माण करके देश का इस क्षेत्र में भी जैसाकि अन्यत्र क्षेत्रों में उन्होंने अभी तक किया है, नेतृत्व कर सके हैं। वर्धा शिक्षा-प्रणाली, जिसके विषय में अब हमें कुछ विचार करना होगा, देश को महात्मा-जी की ही देन है, जो, यदि सफल हो सकी, तो राष्ट्र की एक सबसे बड़ी कमी को पूरा करने में समर्थ होगी।

इस प्रणाली को ठीक-ठीक समझने के लिए यह अनिवार्य है कि हम पहले उस आदर्श को समझने का प्रयत्न करें, जिसकी ओर देश के नवयुवकों को प्रेरित करना इसका लक्ष्य होगा। महात्मा गांधी वर्तमान पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के उतने ही विरोधी हैं, जितना कि एक सच्चा समाजवादी हो सकता है। वह मनुष्य का मनुष्य द्वारा होने वाले शोषण का अन्त करना

चाहते हैं, किन्तु उनका दृष्टि-बिन्दु समाजवादियों से सर्वथा भिन्न है। महात्मा जी सत्य और अहिंसा के पुजारी हैं और जीवन-सम्बन्धी उनका प्रत्येक दृष्टिकोण इस विश्वास से ओत-प्रोत रहता है। वह एक ऐसी सहकारी सामाजिक व्यवस्था (Co-operative social order) का निर्माण करना चाहते हैं, जिसका आधारभूत सत्य और अहिंसा हो और वे समाजवाद के इसलिये विरोधी हैं कि उसका निर्माण अहिंसा नहीं, बल्कि हिंसा पर किया गया है। साथ ही महात्मा जी वर्तमान औद्योगिकवाद और मशीन-युग के भी समर्थक नहीं हैं। अस्तु, व्यावहारिक रूप में वह ऐसी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देना चाहते हैं, जिसका सङ्गठन ही इस प्रकार का हो कि उसमें हिंसा के लिये कोई स्थान न हो, और उनकी दृष्टि में वह तब ही सम्भव हो सकता है जबकि यथाशक्ति प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को आप ही पूरा कर सके और उत्पादन-कार्य का, जहा तक सम्भव हो, केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण किया जावे। और वर्धा शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य राष्ट्र में ऐसे नवयुवकों को उत्पन्न करना ही होगा जिनका आदर्श गांधीवाद हो, जो सत्य और अहिंसा के पुजारी और अनुगामी हों। अखिल भारतीय शिक्षा-सम्मेलन वर्धा में महात्मा गांधी ने अपने इन विचारों को स्पष्ट कर दिया था। सम्मेलन में प्रारम्भिक भाषण देते हुए आपने कहा था—"If we want to eliminate communal strife, and international strife, we must start with foundations pure and strong by rearing our younger generation on the education. I have adumbrated. That plan springs out of non-voilence" "यदि हम साम्प्रदायिक और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का अन्त करना चाहते हैं, तो हमें पवित्र और दृढ़ नींव के बल पर कार्य आरम्भ करना चाहिये और हमारी नव पीढ़ियों का उस शिक्षा पर, जिसकी मैंने आयोजना की है, पोषण करना चाहिए। इस आयोजना का उद्गम-स्थान अहिंसा है।"

अब हम इस प्रणाली के अन्य आवश्यक अङ्गों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करेंगे जिनको कार्यान्वित कर इसके समर्थक देश को वर्तमान अज्ञान

और अशिक्षा से मुक्त करना चाहते हैं। इस प्रणाली के दो आधारभूत स्तम्भ (Two corner stones) किसी दस्तकारी (Handicraft) विशेष को समस्त शिक्षा का केन्द्र बनाना, और शिक्षा को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाना है, जिनके सम्बन्ध में कुछ विशेष विवरण देना अनुचित न होगा।

सबसे पहले "दस्तकारी द्वारा तमाम शिक्षा" (All education through handicraft) के प्रश्न को ही लीजिये। महात्मा गांधी का कहना है कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य प्रत्येक युवक और युवती की सारी सुप्त शक्तियों को जागृत करके उसकी सर्वाङ्गी उन्नति (All round development) करना है, और यह केवल पुस्तकों के पठन-पाठन से सम्भव नहीं। इसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक विद्यार्थी को किसी दस्तकारी विशेष की, जो उसकी रुचि और उसके वातावरण के अनुकूल हो, इस प्रकार वैज्ञानिक ढङ्ग से शिक्षा दी जावे कि उसके द्वारा ही वह अन्य विषयों, जैसे इतिहास, भूगोल, विज्ञान, हिसाब आदि की भी शिक्षा ग्रहण कर सके। इसी विषय में अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए महात्माजी ने सम्मेलन में भाषण देते समय कहा था—"मिसाल के तौर पर तकली से सूत कातने की शिक्षा के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न कपास सम्बन्धी ज्ञान, भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार की जमीन, दस्तकारी के नाश का इतिहास और उसके राजनीतिक कारण, जिसमें हिन्दुस्तान में अंगरेजी हुकूमत का इतिहास भी आ जाता है, और अङ्कगणित आदि विषयों के ज्ञान का भी समावेश हो जाता है।" किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि दस्तकारी चुनते समय इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखा जावे कि वह इस प्रकार की शिक्षादायिनी शक्ति (Educative possibilities) से परिपूर्ण हो।

जहां तक शिक्षा की इस पद्धति की उपयोगिता का सवाल है, इसमें किसी प्रकार की शङ्का के लिये जगह नहीं हो सकती। मनोवैज्ञानिक सामाजिक आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी, सब दृष्टिकोणों से यह उपयोगी सिद्ध होगी। यह बालक को केवल किताबी शिक्षा के बोझ से हलका करके उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का उचित समन्वय करने में सफल होगी, सामाजिक दृष्टि से

यह शारीरिक श्रम के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न कर सकेगी और शिक्षित वर्ग और श्रमजीवियों में पाये जाने वाले मौजूदा भेदभाव का अन्त कर सकेगी। आर्थिक दृष्टि से यह हमारे कार्यकर्त्ताओं की उत्पादन-शक्ति बढ़ावेगी और शिक्षा की दृष्टि से भी यह हमारे बालकों को अधिक वास्तविकता और व्यवहारिकता प्रदान कर सकेगी। इसके विरोध में केवल एक ही आरोप हो सकता है, जिसके विषय में प्रोफेसर के० टी० शाह ने उपरोक्त सम्मेलन में भाषण देते समय लोगों का ध्यान आकर्षित किया था कि शारीरिक श्रम (Manual labour) पर आवश्यकता से अधिक जोर देना देश के आर्थिक हित की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होगा। मशीन के इस युग में यदि हमने मशीनों का सर्वथा बहिष्कार किया, तो देश को आर्थिक हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि दस्तकारी की शिक्षा देने में उसके द्वारा होने वाली उत्पत्ति से अधिक व्यय हो जाता है। किन्तु जैसे आरम्भ में ही लिखा जा चुका है, मशीनों के प्रयोग का प्रश्न महात्माजी के लिये एक भावी सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध लेने वाला प्रश्न है, और जिस व्यवस्था की वह कल्पना करते हैं, उसमें वर्तमान औद्योगिकवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। अस्तु, इस सवाल को हम फिलहाल यहां यह कह कर ही समाप्त कर देते हैं कि यदि हम महात्माजी के भावी सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी विचारों को सिद्धान्त-रूप में स्वीकार करते हैं, जिस पर कि यह शिक्षाप्रणाली स्थित है, तो हमें मशीनों के प्रलोभन को छोड़ना ही होगा। यह सवाल तो बुनियादी है, जिसका इस शिक्षा-योजना के साथ अटूट सम्बन्ध है।

दूसरा प्रश्न इस विषय में शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने का है। महात्मा गांधी का विश्वास है कि इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली विद्यार्थियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से अपना खर्च स्वयं निकाल सकेगी। इतना ही नहीं, उन्होंने ता० २-१०-३७ के 'हरिजन' में यहां तक लिखा है कि इसकी वास्तविकता की परीक्षा इसके स्वावलम्बी होने पर ही होगी। एक बात यहां ध्यान रखने की है कि शिक्षा-प्रणाली को स्वावलम्बी बनाने का अर्थ केवल इतना ही है कि उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से जो आय होगी, वह अध्यापकों के वेतन सम्बन्धी खर्चे को पूरा कर सकेगी। स्कूल के लिये जमीन तथा मकान आदि का खर्चा

इसमें शामिल नहीं है, जिसका प्रबन्ध करना राज्य का कर्तव्य होगा। इसका सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि भारतवर्ष की असंख्य जनता को शिक्षा देने के लिये जितने व्यय की आवश्यकता हो सकती है, उसका प्रबन्ध करने का अन्य कोई सुगम और व्यवहारिक उपाय निकट भविष्य में सम्भव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक और लाभ है जिसका डा० जकीर हुसैन-रिपोर्ट में इन शब्दों में जिक्र किया गया है—"आर्थिक दृष्टि को छोड़ कर भी, हमारी यह राय है कि विद्यार्थियों के कार्य में और शिक्षा देने में पूर्णता और दक्षता लाने के इस प्रकार का प्रतिबन्ध लाभदायक सिद्ध होगा। बिना ऐसी किसी रोक के, इस बात का अन्देशा रहेगा कि कार्य शिथिल पड़ जावे और उसकी शिक्षादायिनी उपयोगिता सर्वथा जाती रहे।" किन्तु साथ ही कमेटी ने यह भी संकेत कर दिया है कि इस योजना को कार्यान्वित करते समय इस बात की सम्भावना भी हो सकती है कि आर्थिक दृष्टिकोण पर आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाने लगे और अध्यापकगण अपना अधिकतर ध्यान और शक्ति विद्यार्थियों से अधिकतम कार्य लेने में लगाने लगें और दस्तकारी के नैतिक और सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी दृष्टि-बिन्दुओं की उपेक्षा की जाने लगे। और इसीलिए कमेटी की सिफारिश है कि अध्यापकों द्वारा शिक्षा देते समय और निरीक्षण कार्य का संचालन करते समय इस बात का बराबर ध्यान रखा जाना चाहिये। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए महात्माजी का कहना है कि प्रत्येक कार्य की उपयोगिता इस बात पर बहुत कुछ निर्भर करती है कि वह कार्य सच्चे और ईमानदार लोगों के हाथों में सौंपा जाये, और इस शिक्षा-प्रणाली का लाभ उठाने के लिए भी यह आव- श्यक है कि इसको कार्यरूप में परिणित करने की जिम्मेवारी उन्हीं लोगों पर रहे, जिनकी इसके प्रति श्रद्धा हो। इस सम्बन्ध में जो दूसरी आपत्ति उत्पन्न की गई है, वह विद्यार्थियों द्वारा तैयार किये हुए माल की समान पेशे वालों के माल से अनुचित प्रतिस्पर्धा के विषय में है। प्रो० के० टी० शाह ने सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था—"हमारे देश में लगभग ३॥ करोड़ बच्चे हैं। जब इन सबके द्वारा तैयार किया हुआ माल बाजार में बिकने के लिए आवेगा; तो बाजार की क्या दशा

होगी ? विद्यार्थियों को कच्चा माल मुफ्त मिलेगा और उनको माल को बेचने के लिये हर प्रकार की सुविधा रहेगी, ऐसी स्थिति में पेशेवर लोगों के साथ अनुचित प्रतिस्पर्धा का होना अनिवार्य होगा।" इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी का विश्वास है कि प्रो० शाह का भय निर्मूल है। इसके अतिरिक्त, राज्य का भी यह कर्त्तव्य होगा कि वह विद्यार्थियों द्वारा बनाया हुआ माल मोल ले। और देश को भी इस सम्बन्ध में अपनी उदारता का परिचय देना होगा। प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चे द्वारा तैयार शुदा माल को मोल लेने में एक प्रकार के गर्व और आनन्द का अनुभव करेगा। अतः महात्माजीका कहना है कि माल के बेचने में किसी प्रकार की कठिनाई न होगी और न किसी अनुचित प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही उठ सकेगा। लेखक का इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण तनिक भिन्न है। आज हमारे देश की जनता के रहन-सहन का परिमाण बहुत ही नीचा है। जीवन को अधिक सुखी और सन्तुष्ट बनाने के लिये, प्रत्येक मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के पूरे-पूरे विकास का अवसर देने के लिये वर्तमान रहन-सहन के परिमाण में यथेष्ट वृद्धि की आवश्यकता है। अस्तु, यदि हमारे स्कूलों के विद्यार्थियों का शिक्षा के साथ ही साथ इस प्रकार का उपयोग हो सके कि वे देश के लिये आवश्यक और लाभदायक वस्तुयें भी उत्पन्न करने लगें, तो यह अवश्य ही वाञ्छनीय है। किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त न होगा। इसी के साथ इस बात की भी आवश्यकता होगी कि हमारे देश की जनता की क्रय-शक्ति (Purchasing power) में भी यथेष्ट वृद्धि हो, और यह तभी सम्भव है जब देश के कृषकों की आर्थिक स्थिति में आवश्यक सुधार किया जावे।

किन्तु यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है, जिसको सफलतापूर्वक राज्य ही हल कर सकता है। अस्तु, यदि साथ ही साथ इस प्रश्न की ओर भी ध्यान दिया गया, तो कोई कारण नहीं कि पेशेवर दस्तकारों को अनुचित प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़े। इसके अतिरिक्त विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और ऐसी चीजों की उत्पत्ति, जिनके लिए यथेष्ट मांग हो, इस प्रश्न को सुलझाने में सहायक हो सकेंगे। अस्तु, इस दृष्टिकोण से इस योजना में किसी प्रकार की आशंका प्रकट करना व्यर्थ है।

इस योजना का तीसरा अङ्ग मुख्य यह है कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी न रह कर हिन्दुस्तानी ही रहे। इसकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं कर सकता। आज हमारे राष्ट्र के विद्यार्थियों का अधिकांश समय एक विदेशी भाषा को सीखने में ही नष्ट होता है और उसके कारण उनका भार भी अत्यधिक हो जाता है।

अध्यापकों की शिक्षा, परीक्षा और निरीक्षण के लिये भी आवश्यक सुधार की योजना की गई है। हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों से प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति आज परिचित है, और शिक्षा-विभाग के उच्च पदाधिकारियों की नौकरशाही मनोवृत्ति को प्रत्येक अध्यापक खूब जानता है। इनमें यथेष्ट सुधार की आवश्यकता से किसी को मतभेद नहीं हो सकता।

इस योजना का एक सबसे बड़ा और अत्यन्त वाञ्छनीय लाभ यह होगा कि जो बालक और बालिकायें इस प्रकार के राष्ट्रीय वातावरण में अपने जीवन के ७ वर्ष व्यतीत करेंगे, और जिनको राष्ट्र-गौरव और राष्ट्र-प्रेम के भावों का मूल्य समझाया जावेगा, वे पाठशालाओं से निकलने के पश्चात् अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और सेवा के भाव लिये हुए होंगे, उनको एक नागरिक के कर्त्तव्यों और अधिकारों का पूरा-पूरा बोध होगा, और राष्ट्र के उत्थान में वे हर प्रकार से सहायक हो सकेंगे।

जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, इस शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य नवयुवक और युवतियों को जन्म देना है जो आदर्श रूप से गांधीवाद में विश्वास करते हों और जो देश की भावी सामाजिक व्यवस्था का गांधीजी के सिद्धान्तों पर ही निर्माण करना चाहते हों। इसलिये यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय है कि क्या देश के लिये गांधीवाद का आदर्श हितकर और व्यावहारिक हो सकेगा। लेखक यहां गांधीवाद तथा अन्य किसी 'वाद' के गुणों और दोषों का वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं समझता। किन्तु वह इतना अवश्य संकेत कर देना चाहेगा कि महात्माजी के जहां तक आर्थिक विचारों का सम्बन्ध है, उनसे वह सहमत नहीं है, और यह असम्भव है कि महात्माजी के आर्थिक विचार उनकी आध्यात्मिकता से पृथक् किये जा सकेंगे। अस्तु, महात्माजी के

निजी दृष्टिकोण का जहां तक प्रश्न है, वह तो यही आवश्यक समझते हैं कि राष्ट्र को उनके या तो समस्त आदर्शवाद को स्वीकार करना होगा अथवा उसको बिल्कुल छोड़ देना होगा। आर्थिक क्षेत्र में वह औद्योगिकवाद के विरोधी हैं, वह देश का आर्थिक ढांचा पूर्णतया विकेन्द्रीकरण के ढङ्ग पर ढालना चाहते हैं। ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनको लेखक की दृष्टि में देश के लिए सिद्धान्त-रूप से स्वीकार करना हितकर न होगा। ऐसी स्थिति में क्या हमें महात्माजी की इस शिक्षा-योजना को केवल आदर्शवाद के नाम पर परित्याग कर देना होगा? लेखक ऐसा नहीं समझता।

आज हमारा राष्ट्र परतन्त्र है। वर्तमान परिस्थिति में देश की औद्योगिक उन्नति कदापि ठीक ठीक मार्ग पर सम्भव नहीं। साथ ही हम यह भी सहन नहीं कर सकते कि जब तक हमें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो जाती, हम राष्ट्र के जन और धन का ह्रास होते हुये चुपचाप देखते रहें। इस परिस्थिति में महात्मा जी के बताये हुये मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। और यही वास्तव में गांधी जी की विशेषता है कि जहां एक ओर उनके पास प्रत्यक्ष संघर्ष के लिये प्रोग्राम है, वहां वे शान्ति के समय में भी राष्ट्र की सञ्चित शक्ति को उत्तरोत्तर वृद्धि मिल सके, इसकी भी योजना तैयार रखते हैं। अस्तु, वर्त्तमान हालत में महात्मा जी की इस शिक्षा प्रणाली को हमें अवश्य कार्यान्वित करके इससे पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिये। भविष्य में जब देश स्वतन्त्र हो जावेगा और वह सामाजिक व्यवस्था को अन्य सिद्धान्तों पर यदि स्थापित करना चाहेगा, तो उसे ऐसा करने की पूर्ण सुविधा और स्वतन्त्रता होगी। यदि एक गाँधीवादी को समाजवाद या अन्य किसी 'वाद' की आवश्यकता समझ में आ जाती है, तो वह एक पूँजीवादी की अपेक्षा अवश्य ही उसे शीघ्र स्वीकार कर लेगा। पूँजीवादी मनोवृत्ति की अपेक्षा गांधीवादी मनोवृत्ति कहीं अधिक हितकर है, और इसको प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त राष्ट्र को मौजूदा शोषण से बचाने का और कोई उपाय नहीं है।

अस्तु, उपरोक्त शिक्षा योजना को अपनाकर देश को अवश्य ही लाभ उठाना चाहिये।

'अर्थ' और 'राज'

: ३ :

: १ :

अर्थ-रचना और सामाजिक हित

आज न केवल भारतवर्ष किन्तु समस्त संसार ही एक युग निर्माणकारी और इसलिये क्रान्तिकारी काल में से होकर गुजर रहा है। जीवन सम्बन्धी प्राचीन मूल्य और उनको आंकने का माप-दण्ड वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा अनुपयुक्त साबित हो चुका है और समाज का उनसे चिपके रहने का अर्थ है भावी प्रगति के मार्ग को सर्वथा बन्द कर देना। इसमें कोई शंका नहीं कि जीवन-मूल्यों में (Life-values) सबसे प्रभावशाली और आधार-भूत स्थान, चाहे फिर हम उसे सर्वोच्च स्थान भले ही न मानें, आर्थिक मूल्यों का है। समाज जब तक अपने आर्थिक मूल्यों (Economic Values) में परिवर्त्तन करने को तैयार नहीं हो जाता, जीवन के अन्य मूल्यों में परिवर्त्तन करना असम्भव है। इसी वास्ते भविष्य में न्यायसंगत और पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त पर सामाजिक संगठन कायम करने के प्रश्न का समाज की आधारभूत अर्थरचना के प्रश्न से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक हम इस समस्या का कोई न कोई सही हल ढूँढ निकालने में अपने आपको असमर्थ पायेंगे तब तक समाज की वर्त्तमान असंतोषजनक स्थिति का अन्त नहीं हो सकता।

समाज के आर्थिक प्रयत्नों के सामूहिक और व्यवस्थित रूप का ही दूसरा नाम अर्थ-रचना है। ये आर्थिक प्रयत्न विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले अथवा उपभोग, विनिमय और वितरण से सम्बन्ध रखने वाले। इन सब में उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले आर्थिक प्रयत्नों का ही आधारभूत महत्त्व है। धन की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले आर्थिक प्रयत्न ही वास्तव में समाज की अर्थरचना के स्वरूप का निर्णय करते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जब यूरोप में सर्व प्रथम इंगलैंड में आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ तो उसके परिणाम स्वरूप उत्पत्ति के तरीकों में एक

क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। छोटे पैमाने पर चलने वाले गृह-उद्योगों का स्थान बड़े बड़े भीमकाय कल-कारखानों ने ले लिया। बड़े पैमाने पर उत्पत्ति करने के लिये विशाल पूँजी और बड़ी मात्रा में अन्य साधनों का होना आवश्यक हो गया। नतीजा यह हुआ कि उत्पत्ति-कार्य का सञ्चालन उन व्यक्तियों और संस्थाओं के हाथ में चला गया जो आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध कर सकते थे। आज आधुनिक समाज में एक पृथक् वर्ग ही ऐसा उत्पन्न हो गया है जिसका कार्य उत्पत्ति के अन्य साधनों, भूमि. श्रम और पूँजी को जुटाना और उनको उत्पत्ति के कार्य में लगाना है। इस वर्ग को हम व्यवसायी वर्ग (Enter-preneurs' class) के नाम से जानते हैं, और मौजूदा आर्थिक रचना अथवा व्यवस्था को पूँजीवादी व्यवस्था का नाम दिया गया है क्योंकि बड़े पैमाने पर उत्पत्ति की आज वही व्यवस्था कर सकता है जिसमें आवश्यक पूँजी जुटाने की क्षमता हो। जो श्रमिक वर्ग है और जिसको हम आधारभूत उत्पादक वर्ग (Producers' class) कह सकते हैं, उसका उत्पत्ति के साधनों पर कोई अधिकार नहीं है। दूसरे शब्दों में मजदूर वर्ग के पास अपने श्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यवसायी वर्ग जो शक्तिवान् और साधन सम्पन्न है, श्रमिक वर्ग का उत्पत्ति के कार्य में केवल व्यक्तिगत लाभ कमाने की दृष्टि से उपयोग करता है। अस्तु वर्त्तमान पूँजीवादी आर्थिक संगठन का मूल आधार ही व्यक्तिगत लाभ कमाने की यह दूषित मनोवृत्ति है। ऐसी दशा में यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में लाभ (Profit) ही वह धुरी है जिसके चारों ओर यह व्यवस्था घूमती है। समाज में समस्त उत्पादन-कार्य का संचालन केवल एक ही बात को ध्यान में रख कर आज किया जाता है कि व्यवसायी वर्ग को उत्पादन कार्य से अधिकतम लाभ प्राप्त हो। पूँजीवाद के समस्त दोषों का यही मूल कारण है। अब हम इसी सम्बन्ध में कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे।

वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की प्रेरक शक्ति केवल लाभ कमाना होने के कारण दो दुष्परिणाम मूल रूप से आज हमको देखने को मिलते हैं। पहली बात तो यह है कि चूँकि व्यवसायी वर्ग को अपने लाभ को अधिकतम

(Maximum) बनाने की हमेशा चिन्ता रहती है, इसलिए वह उत्पादन के अन्य साधनों पर कम से कम खर्च करना चाहता है। और चूँकि मजदूरों का वेतन ही उत्पादन के लागत का (Cost of production) एक बहुत बड़ा अंश होता है, इस लिए व्यवसायी-वर्ग हमेशा इस बात के प्रयत्न में रहता है कि कार्य-क्षमता को कायम रखते हुए मजदूरों को कम से कम मजदूरी दी जावे। श्रमिक वर्ग का इस प्रकार निरन्तर शोषण होता है, यद्यपि मजदूर-संघों की प्रगति के साथ-साथ इस शोषण की मात्रा में पहले की अपेक्षा कुछ कमी अवश्य आई है। इस शोषण का मूल कारण यह है कि मौजूदा अवस्था में उत्पादन कार्य में श्रमिक वर्ग एक नौकर और दास की हैसियत से भाग लेता क्योंकि उसके पास आज बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के साधन नहीं हैं जिससे कि वह कोई निजी व्यवसाय खड़ा कर सके और जिनके पास इन आवश्यक साधनों को जुटाने की शक्ति है वे उनका व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से पूरा पूरा दुरुपयोग करते हैं।

दूसरे दुष्परिणाम का कारण भी व्यवसायी-वर्ग की लाभ कमाने को वृत्ति ही है। हम इस बात को भली प्रकार आज जानते हैं कि व्यवसायी वर्ग अपने पास के साधनों का प्रयोग केवल उन वस्तुओं के उत्पन्न करने में करता है जिनके द्वारा उसे अधिक से अधिक लाभ होने की संभावना प्रतीत होती है। इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं रखी जाती कि उन वस्तुओं को उत्पन्न करना समाज की आवश्यकता और उनके हित की दृष्टि से कहाँ तक उचित है। इसका परिणाम यह निकलता है कि उत्पादन-कार्य और समाज की उपभोग (Consumption) सम्बन्धी आवश्यकता में कोई मेल नहीं रहता। इस बात का सबसे साधारण उदाहरण यही है कि जब कि असंख्य जनता जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं (Primary Necessaries) से भी वंचित रहती है, व्यवसायी वर्ग उत्पत्ति के साधनों का उपयोग अनेकों प्रकार की गैर जरूरी और विलास की वस्तुओं को उत्पन्न करने में करता हुआ पाया जाता है। अतः इस हद तक सब विचारशील व्यक्ति एक मत हैं कि अर्थ-रचना का मौजूदा पूँजीवादी रूप समाज के सम्पूर्ण हित की दृष्टि से घातक है और इसके

स्थान में किसी ऐसी आर्थिक रचना का निर्माण होना आवश्यक है जो उपरोक्त दोषों से मुक्त हो तथा जो अन्य दृष्टि से भी मानव जीवन को अधिक आकर्षक और सुखी बनाने में सफल हो सके।

अब प्रश्न यह है कि वह आर्थिक रचना किस प्रकार की होनी चाहिये जो सब दृष्टि से संतोषप्रद मानी जा सके। इस प्रश्न का एक मात्र सफल और व्यावहारिक उत्तर देने का प्रयत्न अब तक समाजवाद ही ने किया था। किन्तु समाजवादी विचारों के अतिरिक्त महात्मा गांधी ने भी इस प्रश्न पर मौलिक रूप से विचार किया है। विचार धाराओं में दार्शनिक दृष्टि से मौलिक भेद होते हुए भी, यह आशा की जा सकती है कि जीवन की वास्तविकताएँ दोनों ही प्रकार के विचारकों को भारतवर्ष और संभवतः सारे संसार के लिये एक ऐसी नई अर्थ-रचना का निर्माण करने को विवश कर देंगी जो मनुष्य जीवन को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाने में सफल हो सके। अस्तु इसी विषय पर अब हम अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

पहले समाजवादी विचारों का ही हम उल्लेख करेंगे। समाजवाद की यह मान्यता है कि वर्तमान पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में श्रमिक वर्ग का शोषण इस वजह से होता है कि उसकी स्थिति उत्पादन-कार्य में आज केवल एक दास (Wage-Slave) की है, वह तो एक निश्चित उजरत पर दूसरों के कार्य को करता है। जब तक उसकी स्थिति दास से बदल कर एक स्वामी की नहीं हो जाती, व्यवसायी-वर्ग द्वारा किये जाने वाले उसके शोषण का अन्त नहीं हो सकता और उसको स्वामी का स्थान उसी हालत में प्राप्त हो सकता है जबकि समस्त उत्पत्ति के साधनों पर किसी व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष का स्वामित्व न रहे बल्कि उनका समाजीकरण (Socialisation) हो जाये, अर्थात् उन पर राज्य का, जो कि समाज की प्रतिनिधि-संस्था होगी, अधिकार स्थापित कर दिया जावे। इस प्रकार समाजवाद वर्तमान आर्थिक शोषण का कारण आधुनिक उद्योगवाद (Modern Industrialism) और मशीन द्वारा बड़े पैमाने पर की जाने वाली उत्पत्ति को नहीं मानता बल्कि उसकी पूँजीवादी रूप को मानता है। दूसरा प्रश्न उत्पत्ति और समाज की उपयोग-

सम्बन्धी आवश्यकता में साम्य (Equilibrium) स्थापित करने का है, सो जब उत्पत्ति का संचालन सारे समाज अर्थात् उसकी प्रतिनिधि-संस्था राज्य के हाथ में आजायेगा तो उत्पादन कार्य एक पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार करना सर्वथा सरल और संभव होगा। इस योजना का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को काम देना होगा और देश भर के उत्पादन-साधनों (Production factors) को इस दृष्टि से काम में लाया जायेगा कि समाज की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति हो, न कि लाभ कमाया जाये। दूसरे शब्दों में उत्पत्ति उपभोग (समाज भर के) लिए होगी न कि लाभ के लिए। समाज की अर्थ-रचना का इस नवीन आधार पर जब पुनर्निर्माण हो जायेगा तो बाजारों और कच्चे माल तथा पूँजी लगाने के लिये आवश्यक द्वार (Outlets for investments) के प्रश्नों को लेकर आज जो विभिन्न राष्ट्रों में संघर्ष होता हुआ देखा जाता है, वह भी इस हद तक बन्द हो जायेगा। संक्षेप में ये हैं समाज-वादियों के भावी अर्थ-रचना के सम्बन्ध में विचार।

गांधीवादी विचारों और उपरोक्त समाजवादी विचारों में पूर्णतया मतैक्य नहीं है। गांधीवादियों की ओर से वर्तमान आर्थिक रचना के प्रति सबसे बड़ा आरोप न केवल उसके पूँजीवादी रूप के किन्तु आधुनिक बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगवाद के खिलाफ भी है। व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उसकी रचनात्मक शक्तियों और प्रवृत्तियों (Creative faculties) को बढ़ने का पूरा पूरा मौका मिले। बिना इसके मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होना संभव नहीं है जो कि मानव समाज के सच्चे सुख और उन्नति के लिए अत्यन्त ज़रूरी है। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूरा पूरा विकास हो इसका सब से सरल और स्वाभाविक उपाय यही होगा कि हम री अर्थ-रचना का वास्तविक रूप और आधार ही ऐसा हो कि मनुष्य अपने जीवन निर्वाह के लिए जो कार्य और उद्यम करे उसके ही द्वारा उसकी रचनात्मक शक्तियों और उसके व्यक्तित्व का भी विकास हो सके। यह उसी हालत में हो सकता है जब उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण हो ताकि प्रत्येक व्यक्ति को

उत्पत्ति के कार्य में स्व-इच्छा के अनुसार रचना करने का पूरा मौका मिल सके। इसके विपरीत जब उत्पत्ति बड़े पैमाने और केन्द्रीकरण के आधार पर की जाती है तो उत्पत्ति के कार्य में लगे हुए श्रमिकों को अपने व्यक्तित्व और रचना शक्ति के विकास करने का कोई अवसर नहीं मिलता। उनका कर्त्तव्य तो यंत्रवत् दूसरों द्वारा बनाई गई योजना के अनुसार काम करना मात्र होता है। और चूँकि समाजवाद केन्द्रित उत्पत्ति से मिलने वाले लाभ को छोड़ने को तैयार नहीं है और हर हालत में विज्ञान का उत्पादन-कार्य में उपयोग करने के पक्ष में है, गांधवाद और उसके मत में विभिन्नता है। वे यह आपत्ति उठाते हैं कि चाहे समाजवाद पूँजीवाद से होने वाले आर्थिक दुष्परिणामों का अन्त भले ही कर दे, किन्तु मनुष्य के विकास में तो वह पूँजीवाद की तरह बाधक ही रहेगा। उत्पत्ति के विकेन्द्रीकरण के बारे में उनकी यह मान्यता है कि जहाँ एक ओर वह पूँजीवाद के दोषों से समाज को मुक्त करने में सफल होगा वहाँ दूसरी ओर वह मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में भी पूर्णरूप से सहायक हो सकेगा। उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण पूँजीवाद के आर्थिक दोषों का निराकरण कर सकेगा। इस पर तनिक विस्तार के साथ विचार कर लेना उचित होगा।

पहले हम व्यवसायी-वर्ग द्वारा श्रमिक वर्ग के शोषण के प्रश्न ही को लेते हैं। जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, श्रमिक वर्ग के शोषण का कारण यह है कि आज वह दास की हैसियत से उत्पत्ति में भाग लेता है। ऐसा उसको करना इसलिये पड़ता है कि उसके सामने अन्य कोई रास्ता रह नहीं जाता। केन्द्रित उत्पत्ति के लिये आवश्यक साधन श्रमिक वर्ग के पास भला कहाँ ? इस वास्ते उत्पत्ति का विकेन्द्रीकारण हो जाये अर्थात् छोटे छोटे पैमाने पर स्वतन्त्र रूप से गृह-उद्योगों के द्वारा उत्पत्ति होने लगे तो प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र धन्धा चला सकेगा और उजरत पर काम करने वाले लोगों का कोई अलग वर्ग फिर नहीं रह जायेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर उत्पत्ति-केन्द्रों का संचालन अलग अलग व्यक्तियों से उजरत पर काम करवाने की किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार को स्वतन्त्रता न रहे तो वर्गशोषण का इस व्यवस्था के अन्तर्गत भी कोई अस्तित्व न रहेगा। किन्तु जिस हद तक इस

नियम का अपवाद समाज में होगा उस हद तक एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति द्वारा शोषण होना संभव हो सकेगा। यहाँ यह बात मान ली गई हैं कि उन लोगों की जो उजरत पर काम करने वाले हैं सौदा करने की शक्ति (Bargaining Capacity) उनको काम देने वालों की अपेक्षा कम होगी। यदि स्थिति इसके विपरीत हुई, जैसा कि मजदूरी पर काम करने वालों की मांग की अपेक्षा पूर्ति के कम होने पर हो सकता है, तो शोषण का रूप भी बदल सकता है। मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास की दस्तकारी अवस्था (Handicraft Stage) का इतिहास अगर हम देखें, तब तो विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर, हमें इसी बात के प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भी अधिकांश जनता का अल्पसंख्यक कार्य-कुशल दस्तकारों (Skilled Craftsman) और स्वामी दस्तकारों (Master Craftsmen) तथा उन किसानों द्वारा जिनके पास पर्याप्त मात्रा में भूमि थी शोषण ही होता था। भविष्य में इस बात की पुनरावृत्ति न हो इसके लिए ऐसा प्रबन्ध करना होगा कि कोई भी परिवार अपने जीवन निर्वाह के लिए स्वतन्त्र साधनों से वंचित न रहे और अगर कुछ लोग वंचित रह जाते हैं तो उनकी स्थिति ऐसी हो कि न तो उनका शोषण हो सके और न वे ही दूसरों से अनुचित लाभ उठा सकें। इस दूसरी बात का नियंत्रण रखना अत्यन्त कठिन होगा, अस्तु साधारणतया समाज को यही व्यवस्था करनी होगी कि प्रत्येक परिवार के पास जीवन-निर्वाह के स्वतन्त्र साधन उपलब्ध हों। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि उक्त व्यवस्था तथा बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग धन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा और पूँजीपतियों और जमींदारों को अपने मौजूदा स्थिर स्वार्थों को छोड़ने के लिये तैयार करना होगा। पूर्ण अहिंसक तरीके से इसकी सम्भावना बहुत कम अथवा बिल्कुल नहीं होने के कारण ही गांधी जी ने अमानतदारी सिद्धान्त (Doctrine of Trusteeship) का मार्ग ढूँढ़ निकाला है। किन्तु अमानतदारी के सिद्धान्त का ईमानदारी के साथ पालन हो सकेगा यह अत्यन्त शंकास्पद है। अस्तुः व्यवहारिक दृष्टि से ऐसे मामलों में किसी हद तक अधिकारच्युत (Expropriation) के सिद्धान्त को ही काम में लाना होगा। जो कुछ भी हो

सिद्धान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति का ऐसा विकेन्द्रीकरण जिसके अनुसार प्रत्येक परिवार स्वतन्त्र रूप से अपने अपने कार्य का स्वामी हो सके मौजूदा वर्ग शोषण को मिटाने का एक सफल उपाय होगा। इस दशा में भी राज्य को समाज के सारे आर्थिक जीवन को एक निश्चित योजना के अनुसार चलाना होगा, यह तो स्पष्ट ही है।

दूसरा प्रश्न उत्पत्ति और समाज के उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं में उचित साम्य स्थापित करने से सम्बन्ध रखता है। उत्पत्ति के विकेन्द्रीकरण द्वारा यह प्रश्न किस प्रकार हल हो सकेगा, हमको अब इस पर विचार करना चाहिये। विकेन्द्रीकरण से हमारा अर्थ यह है कि जहां तक संभव हो सके, उत्पादक उत्पत्ति अपनी और अपने गांव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही करे, और इस प्रकार कुछ अंशों में तो प्रत्येक व्यक्ति, और अधिकांश आवश्यकताओं का जहाँ तक सम्बन्ध है, प्रत्येक गाव स्वावलम्बी हो, और प्रान्त, देश और विदेशों में उत्पन्न वस्तुओं पर क्रमानुसार कम से कम निर्भर रह जाये। यह तभी संभव हो सकेगा जब कि प्रत्येक व्यक्ति यह नियम बना ले कि प्रथम अपनी और अपने गाँव की वस्तुओं का और उसके बाद क्रमशः प्रान्त देश और विदेशों में बनी वस्तुओं का उपयोग करेगा। ऐसी दशा में उत्पत्ति करने वालों के लिए भी अनिवार्य हो जायगा कि वे अपने निकटतम से निकटतम बाजार के लिए ही माल पैदा करे; और जितना बाजार कम विस्तृत होगा उत्पत्ति छोटे पैमाने पर करना संभव होगा। इसी प्रकार उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण अपने आप से भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए किसी हद तक यह अनिवार्य कर देगा कि वह अपने गाँव और प्रान्त की बनी हुई वस्तुओं को ही पहले उपयोग में लावे क्योंकि बाहर की बनी हुई वस्तुओं का उपलब्ध होना आज सा सरल तब नहीं रहेगा। अस्तु, उत्पत्ति के विकेन्द्रीकरण के द्वारा भी न केवल वर्ग-शोषण का अन्त बल्कि उत्पत्ति और उपभोग में भी बहुत कुछ हद तक साम्य स्थापित हो सकेगा।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है गांधीवाद का समाजवाद के प्रति सबसे बड़ा आरोप यह है कि समाजवाद मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि

से तो उतना ही हानिकर होगा जितना पूँजीवाद है। इस आरोप में तथ्य है, किन्तु जैसे जैसे बिजली के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उपभोग के कारण औद्योगिक उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण अधिकाधिक संभव होता जायेगा और टेकनिक्स अपने नियोटेकनिक (Neotechnic) अवस्था में प्रगति करती जायेगी, वैसे वैसे औद्योगिक उत्पत्ति का यह दोष बराबर कम होता जायेगा।

मशीनरी द्वारा उत्पत्ति के विरुद्ध एक दलील यह भी दी जाती है कि भारतवर्ष में काम करने वालों की बहुतायत हैं और पूँजी की कमी है और इस वास्ते भारतवर्ष के सामने प्रश्न श्रम बचाने का नहीं है, बल्कि उसको अधिकाधिक काम में लगाने का है। अतः मशीन द्वारा बड़े पैमाने पर की जाने वाली उत्पत्ति भारतवर्ष के लिये उपयुक्त नहीं है। उपरोक्त दलील में दो बातों को मिला दिया गया है। भारतवर्ष में श्रम की अधिकता होने के कारण मनुष्य द्वारा बनाये हुए किसी ऐसे साधन, जैसे मशीनरी, का उपयोग करना जिसका परिणाम श्रम की बचत करना हो, आवश्यक नहीं है, एक बात है। इस बात का अन्तिम निर्णय करने के पहले हमको यह ध्यान भी रखना होगा कि एक औसत भारतीय के जीवन को सुखी और स्वस्थकर बनाने के लिए उसके वर्तमान रहन सहन के परिणाम को यथेष्ट ऊंचा उठाना आवश्यक है। यह बिना वर्त्तमान उत्पत्ति की मात्रा में बहुत काफी वृद्धि किये संभव नहीं हो सकता। अतः हमारी भावी उत्पादन व्यवस्था में मशीन का क्या स्थान रहे इसका निर्णय करने के लिए यह देखना होगा कि उत्पत्ति की मात्रा में आवश्यक वृद्धि के लिए हमें मशीन के सहयोग की किस हद तक जरूरत होगी। इस सम्बन्ध में हमको यह बात भी नहीं भूलना चाहिये कि समय के साथ जन संख्या में भी उत्तरोत्तर-वृद्धि होती जा रही है।

दूसरी बात भारतवर्ष में पूँजी की कमी से सम्बन्ध रखती है। इस सम्बन्ध में केवल इतना ही संकेत करना यथेष्ट होगा कि जो देश प्राकृतिक साधनों में भारतवर्ष के समान सम्पन्न हो उसकी औद्योगिक उन्नति करना सर्वथा सम्भव है। औद्योगिक पूँजी की समस्या को बैंकिंग और साख व्यवस्था में आवश्यक सुधार करके तथा अन्य प्रकार से हल करना इतना कठिन कार्य नहीं है कि उसके

कारण देश का औद्योगिककरण ही न हो सके।

उत्पत्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध यह भी आक्षेप किया जाता है कि वह शक्ति के केन्द्रीकरण का एक प्रबल कारण होगा। जिन लोगों के हाथ में उत्पत्ति की समस्त योजना बनाने का कार्य रहेगा, वे अगर चाहें तो अपनी इस महान शक्ति का आसानी से दुरुपयोग कर सकेंगे। इसमें कोई संदेह नहीं कि उत्पत्ति के केन्द्रीकरण में इस बात का खतरा हो सकता है। राज्यसंस्था पर सारे समाज का नियंत्रण इस खतरे को कहाँ तक कम कर सकेगा यह कहना कठिन है। बड़े पैमाने पर चलने वाले उत्पत्ति केन्द्रों के सम्बन्ध में एक जोखम और भी है। बड़े बड़े औद्योगिक केन्द्रों को हवाई हमलों द्वारा सरलता से नष्ट किया जा सकता है और समाज के जीवन को पंगु बनाया जा सकता है। अतः युद्ध के समय में गृह उद्योग विशेष रूप से उपयोगी हो सकते हैं। इस बात को आज चीन वाले अच्छी तरह से अनुभव कर रहे हैं। फिर भी किसी देश के लिए अपने सारे आर्थिक संगठन की रचना युद्ध कालीन आवश्यकताओं की दृष्टि से करना ही संभव नहीं हो सकता। इस प्रकार की विशेष परिस्थितियों के लिये आवश्यक गुञ्जाइश हम अपनी अर्थ रचना में अवश्य रख सकते हैं और रखना भी चाहिए।

केन्द्रित उत्पत्ति के उपरोक्त दोषों को स्वीकार करते हुए भी, आज यह संभव नहीं है कि हमारी अर्थ रचना में उसको कोई स्थान ही प्राप्त न हो। कुछ उद्योग धन्धे ऐसे हैं जिनके बिना आधुनिक समाज का काम नहीं चल सकता और जिनका विकेन्द्रीकरण भी संभव नहीं है। जैसे, देश की रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले उद्योग धन्धों, लोहे और फौलाद के कारखानों, बिजली, रेल, नहरें, और सड़कें बनवाने के काम को बड़े पैमाने पर स्थापित करना अनिवार्य है। इन उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में गांधीवादी लोग भी इस अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं और इस वास्ते उन पर राज्य का पूरा पूरा नियंत्रण अथवा अधिकार हो यह आवश्यक समझते हैं।

इसी प्रकार कई उद्योग-धन्धे ऐसे भी हो सकते हैं जिनका गृह उद्योग के रूप में ही चलना अनिवार्य है। वे उद्योग-धन्धे जिनमें व्यक्तिगत पसन्द का

अधिक ध्यान रखा जाता हो, तथा जो विशेष कला और शिल्प से सम्बन्ध रखने वाले हों इस श्रेणी में गिने जा सकते हैं। समाजवादी लोगों को भी इन धन्धों के गृह-उद्योग के रूप में चलाये जाने के प्रति कोई आपत्ति नहीं है। इतना होते हुए भी हमारी अर्थ-रचना में केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग का सापेक्षिक स्थान क्या होना चाहिए इस सम्बन्ध में गांधीवाद और समाजवाद में विचार भिन्नता पाई जाती है। इस पर प्रकाश डालना अनुचित न होगा।

गांधीवाद का यह आग्रह है कि हमारी अर्थ रचना में केन्द्रित उत्पत्ति को उतना ही स्थान प्राप्त होना चाहिये जितना कि अनिवार्य समझा जावे। उदाहरण के लिये जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है, सार्वजनिक उपयोग से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों (जैसे रेलें, बिजली, सड़कें तथा पानी पहुँचाने वाले कारखाने—Water Supply) का बड़े पैमाने पर संगठित करना अनिवार्य हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक साधनों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से उद्योग भी बड़े पैमाने पर ही चलाने होंगे। इन उद्योग-धन्धों का काम प्राकृतिक साधनों को इस योग्य बना देना होगा कि एक स्वतन्त्र दस्तकार उनको कच्चे माल के रूप में प्रयोग कर सके। लोहा और फौलाद तैयार करने के कारखाने तथा लकड़ी और जंगल की कई छोटी छोटी पैदावार प्राप्त करने के लिए स्थापित कारखाने इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं। इन केन्द्रित उद्योगों का काम शिल्पकार के लिए प्रारम्भिक कच्चा माल तैयार करना होगा और उस कच्चे माल की सहायता से शिल्पकार उपभोग के लिए वस्तु तैयार करेगा। बड़े बड़े कारखानों में लोहा और फौलाद तैयार किया जायेगा लेकिन उस लोहे के औज़ार आदि बनाने का काम गृह उद्योग के रूप में स्वतन्त्र शिल्पकारों द्वारा किया जायेगा। इसी प्रकार जंगल से लकड़ी प्राप्त करने और उसे काम में लाने योग्य बनाने का कार्य बड़े बड़े कारखानों में हो सकता है जब कि उस लकड़ी का चर्खा बनाना अथवा फरनीचर बनाना एक दस्तकार का काम होगा। छोटे पैमाने पर होने वाली उत्पत्ति को आर्थिक दृष्टि से अधिक सफल और वैज्ञानिक रूप देने के लिए कई ऐसे कार्य होंगे जिनके सम्बन्ध में राज्य और समाज को दस्तकार की सहायता करनी होगी, क्योंकि ये कार्य उसकी शक्ति के परे होंगे।

आवश्यक पूंजी की व्यवस्था करना, वस्तुओं के क्रय-विक्रय के बारे में प्रबन्ध करना, तथा उत्पत्ति के तरीकों में सुधार करने की दृष्टि से खोज और प्रयोग करना, कुछ ऐसे ही कार्य हैं। इस प्रकार की उद्योग की व्यवस्था को ही होरीजौंटल प्लानिंग (Horizontal Planning) का नाम दिया गया है। इसमें और समाजवादी व्यवस्था में यह अन्तर है कि जहां उक्त व्यवस्था में राज्य अथवा समाज उत्पत्ति कार्य में केवल खास खास स्थानों पर ही दस्तकार की सहायता करेगा, वहां समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सारी की सारी जिम्मेवारी राज्य ही अपने पर ले लेता है और फलतः व्यक्ति मशीन का एक दास मात्र रह जाता है तथा उसके व्यक्तित्व का सर्वथा विकास नहीं हो पाता।

समाजवाद का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उसके विचार में समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को सुखी और स्वस्थकर बनाने के लिये और रहन सहन के मौजूदा परिणाम को ऊँचा उठाने के लिये यह आवश्यक है कि जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की (Basic necessaries) पूर्ति के लिये जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनकी उत्पत्ति की मात्रा में यथेष्ट वृद्धि की जाये। और जब हम यह देखते हैं कि जन-संख्या बराबर बढ़ती जाती है तो आवश्यक वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि करना और भी अधिक आवश्यक मालूम पड़ता है। वस्तुओं की मात्रा में यह अभिवृद्धि बिना मशीन का उत्पत्ति कार्य में पूरा पूरा सहयोग लिये, केवल दस्तकारी के आधार पर स्थापित अर्थ व्यवस्था के द्वारा ही पूरी नहीं हो सकती। समाज का प्रत्येक स्त्री-पुरुष समाज की सांस्कृतिक, साहित्यिक और कला आदि विषयों सम्बन्धी प्रगति में पूरा पूरा भाग ले सके इसके लिये भी यह आवश्यक है कि उसको अपने जीविकोपार्जन के कार्य से कुछ अवकाश (Leisure) मिले। यह एक दूसरा कारण है जो हमारी आर्थिक व्यवस्था में मशीन का अधिकाधिक मात्रा में उपयोग करना जरूरी बना देता है। अतः समाजवाद का मत है कि अधिकांश प्रारम्भिक और आधारभूत आवश्यकताओं की (Primary and Basic necessaries) पूर्ति तो उत्पत्ति कार्य में मशीन का पूरा पूरा उपयोग करके की जाये और अन्य छोटे मोटे कार्य, जिनमें मनोरंजन और कला को भी यथेष्ट स्थान मिल सकता

है मनुष्य के व्यक्तिगत प्रयत्नों पर छोड़ दिये जावें। उदाहरण के लिये कृषि के क्षेत्र में गेहूं तथा अन्य अनाज आदि इस प्रकार की चीजें तो बड़े पैमाने पर उत्पन्न कर ली जावें और साग, फल-फूल, आदि व्यक्तिगत उत्पत्ति के लिए छोड़ दिये जायें। इसी प्रकार साधारणतया काम में आने योग्य ऊनी और सूती कपड़ा बड़े २ कल कारखानों में बनाया जा सकता है, और बुनने काढ़ने आदि का तथा अन्य रुचि पूर्ण डिजाइन के कपड़े, साड़ी, साल, दुशाले आदि बनाने का कार्य व्यक्तियों के ऊपर छोड़ा जा सकता है। इस बटवारे के पीछे यह सिद्धान्त है कि जहाँ तक आधार भूत आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न है समाज का यह कर्तव्य है कि वह इस बात का समुचित प्रबन्ध कर दे कि प्रत्येक व्यक्ति की इन आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है किन्तु जो अन्य आवश्यकतायें हैं उनके बारे में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र रहे। यहाँ केवल इतना सा ध्यान रखना होगा कि यह स्वतन्त्रता शोषण का कारण न बन जावे।

समाजवाद और गांधीवाद में से हमारी भावी आर्थिक रचना का आधार क्या होना चाहिये इसका निश्चित उत्तर देना कठिन है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भावी अर्थ रचना में दोनों का योग समन्वय बिठाना होगा। जीवन की वास्तविकतायें दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं को एक दूसरे के अधिकाधिक निकट लाने में सफल हो सकेंगी, ऐसी आशा रखना अनुचित नहीं है। वही अर्थ व्यवस्था समाज के सच्चे हित में होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिये रहन सहन का स्वस्थकर परिमाण सुलभ हो सकेगा, व्यक्तित्व के विकास के लिये यथेष्ठ गुंजाइश होगी, और जो समाज को शोषण मुक्त बनाने में भी सफल हो सकेगी। ऐसी व्यवस्था आर्थिक, आध्यात्मिक और न्याय तीनों ही की दृष्टि से उत्तम होगी। इसका निर्माण समाजवाद और गांधीवाद के समन्वय के आधार पर ही हो सकेगा, यह स्पष्ट ही है।

वीरबाला: जून १६४०

: २ :

भावी अर्थ-रचना के आधार का प्रश्न

जिस समय समस्त संसार हिंसा और पाशविकता की रङ्गभूमि बना हुआ है, मनुष्य की चिरसञ्चित मानव संस्कृति आततायियों के अत्याचारों और शोषण के भार से कराह रही है, और प्रेम, सहानुभूति और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों का सर्वथा लोप-सा होता जान पड़ता है, किसी निर्माणकारी प्रवृत्ति के विषय में विचार करने का प्रश्न कुछ असामयिक मालूम पड़ सकता है; किन्तु यदि हम थोड़ा-सा ध्यानपूर्वक विचार करें, तो यह बात सहज ही हमारी समझ में आ जायगी कि यदि हम वर्तमान सभ्यता को नष्ट होने से बचाना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम हिंसा और शोषण के आधारभूत कारणों का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करें और भावी समाज-रचना को अधिक सही और न्यायपूर्ण आधार पर स्थापित करने के प्रश्न पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें।

यह सब जानते हैं कि जीवन सम्बन्धी हमारा प्राचीन मूल्य और उसे आँकने का हमारा मापदण्ड वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा अनुपयुक्त साबित हो चुका है। वर्तमान विश्व-व्यापी युद्ध इसका ज्वलन्त तथा अत्यन्त प्रामाणिक उदाहरण है। अतः हमारे वर्तमान जीवन-मूल्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। आज हम चारों ओर से संसार के लिये 'नयी व्यवस्था' की बात सुनते हैं, यह इस बात का सबूत है। हां, इसमें कोई शङ्का नहीं कि इस व्यवस्था की कल्पना विभिन्न विचारों के लोग विभिन्न प्रकार की करते हैं—किन्तु परिवर्तन की अनिवार्यता के विषय में कोई मतभेद नहीं है। समाज के वर्तमान स्वरूप से आज कोई भी सन्तुष्ट नहीं जान पड़ता। किसी समाज के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये हमें उसके आर्थिक स्वरूप को समझना होगा। जीवन-मूल्य में सबसे प्रभावशाली और आधारभूत स्थान आर्थिक मूल्य का होता है। जब तक समाज अपने आर्थिक मूल्य में परिवर्तन करने को तैयार नहीं होता, जीवन के अन्य मूल्य में परिवर्तन करना असम्भव है। इसीलिये भविष्य में न्यायसङ्गत और पारस्परिक सहयोग

के सिद्धान्त पर सामाजिक संगठन कायम करने के प्रश्न का समाज की आधार-भूत अर्थ-रचना के प्रश्न से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है।

समाज के आर्थिक प्रयत्नों के सामूहिक और व्यवस्थित रूप का ही दूसरा नाम अर्थ-रचना है। यह आर्थिक प्रयत्न विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले अथवा उपभोग, विनिमय और वितरण से सम्बन्ध रखने वाले। इन सब में उत्पत्ति से सम्बन्ध रखने वाले आर्थिक प्रयत्नों का ही आधारभूत महत्त्व है। धन की उत्पति से सम्बन्ध रखने वाले आर्थिक प्रयत्न ही वास्तव में समाज की अर्थ-रचना के स्वरूप का निर्णय करते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जब यूरोप में सर्व प्रथम इंगलैंड में आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ, तो उसके परिणाम-स्वरूप उत्पादन-प्रणाली में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। छोटे पैमाने पर चलने वाले गृह-उद्योगों का स्थान बड़े बड़े कल-कारखानों ने ले लिया। यही आधुनिक पूंजीवाद का समारम्भ था। हमारे समाज की वर्तमान सभ्यता का आर्थिक आधार यही पूंजीवाद है। अस्तु, जब तक हम समाज की इस दोषपूर्ण आर्थिक व्यवस्था का अन्त कर, इसके स्थान पर अधिक सही आर्थिक सङ्गठन स्थापित नहीं करते, मानव समाज में फैली हुई वर्तमान अशान्ति और पाशविकता का अन्त नहीं किया जा सकता।

वर्तमान पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था की प्रेरक शक्ति 'लाभ' है, यह हम भली प्रकार जानते हैं। इस कारण समाज को दो मूलभूत दुष्परिणामों को झेलना पड़ता है। पहली बात तो यह है कि चूंकि व्यवसायी-वर्ग को हमेशा यह चिन्ता बनी रहती है कि उत्पत्ति से उसको अधिकतम लाभ हो, वह उत्पत्ति के अन्य साधनों पर कम से कम व्यय करना चाहता है। मजदूरों के वेतन उत्पत्ति की लागत का एक बहुत बड़ा अंश होने के कारण, व्यवसायी वर्ग सदा इस प्रयत्न में रहता है कि कार्यक्षमता को कायम रखते हुए मजदूरों को कम से कम मजदूरी दी जाये। श्रमिक वर्ग का इस प्रकार निरन्तर शोषण होता है। इस शोषण का मूल कारण यह है कि मौजूदा अवस्था में उत्पादन कार्य में श्रमिक वर्ग एक दास की हैसियत से भाग लेता है। जिन कार्यों को वे आज करते हैं, उन पर उनका कोई स्वामित्व नहीं है।

दूसरे दुष्परिणाम का कारण भी व्यवसायी वर्ग की लाभ उठाने की वृत्ति है। आज व्यवसायी वर्ग अपने पास के साधनों का प्रयोग केवल उन वस्तुओं के उत्पन्न करने में करता है, जिनके द्वारा उसे अधिक से अधिक लाभ होने की सम्भावना प्रतीत होती है। समाज की आवश्यकता और हित का उत्पत्ति करते समय कोई ध्यान नहीं रखा जाता। फलतः उत्पादनकार्य और समाज की उपभोग सम्बन्धी आवश्यकता में कोई मेल नहीं रहता। इसी का यह उदाहरण है कि आज हम देखते हैं कि एक ओर तो असंख्य जनता को जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं से भी वंचित रहना पड़ता है, और दूसरी ओर उत्पत्ति के साधनों का उपयोग अनेकों प्रकार की अनावश्यक और विलास की वस्तुओं को उत्पन्न करने में किया जाता है। अतः पूंजीवाद के आधार पर खड़ी की हुई अर्थ-रचना समाज के हित की दृष्टि घातक है, यह बात अब सब स्वीकार करते हैं। हमारे सामने प्रश्न तो यह है कि अर्थ-रचना के अन्य मूल-आधार क्या हों, जिससे समाज पूंजीवाद के दुष्परिणामों से मुक्त हो सके। हमारे सामने इस सम्बन्ध में दो विचारधारायें हैं। एक है समाजवादी विचारधारा और दूसरी है गांधीजी की विचारधारा। अध्ययन का विषय यह है कि हमारी भावी अर्थ-व्यवस्था का आधार कोई-सी एक विचारधारा ही होनी चाहिए अथवा दोनों का सुन्दर समन्वय।

पहले हम समाजवादी विचारधारा का उल्लेख करेंगे। समाजवाद की यह मान्यता है कि श्रमिक वर्ग का शोषण उसी समय बन्द हो सकता है, जब अर्थ-व्यवस्था में उनका स्थान एक दास का नहीं, स्वामी का हो। दूसरे शब्दों में उत्पत्ति के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर दिया जाय और उनका समाजीकरण हो जाय, अर्थात उन पर राज्य का जो कि समाज की ही प्रतिनिधि संस्था होगी, अधिकार स्थापित कर दिया जाय। सारांश यह है कि समाजवादी वर्तमान आर्थिक शोषण का कारण आधुनिक उद्योगवाद और मशीन द्वारा बड़े पैमाने पर की जाने वाली उत्पत्ति को नहीं मानता, बल्कि उसके पूंजीवादी स्वरूप को मानता है। दूसरा प्रश्न उत्पत्ति और समाज की उपभोग-सम्बन्धी आवश्यकता में साम्य स्थापित करने का है। यह भी

समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सहज ही सम्भव हो सकेगा। उत्पादन कार्य एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार होगा और इस योजना का आधार मुनाफा कमाना नहीं होगा, बल्कि समाज की उपभोग-सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करना और प्रत्येक काम कर सकने योग्य नागरिक को उसके योग्य काम देना होगा। समाज का जब इस नये आधार पर पुनर्सङ्गठन हो जायेगा, तब बाजार कच्चा माल और पूंजी लगाने के लिये सुविधायें प्राप्त करने के प्रश्नों पर विभिन्न राष्ट्रों में जो प्रतिस्पर्द्धा और सङ्घर्ष हम आज देखते हैं, वह उस समय नहीं रहेगा; क्योंकि यह एक निर्विवाद सत्य है कि साम्राज्यवादी देशों की सम्पूर्ण जनता का कोई लाभ नहीं होता, वह तो कुछ विशेष स्थिर हितों के लिए ही अपना सर्वस्व होमने को उत्तेजित की जाती है।

गांधीजी के विचारों और उपर्युक्त समाजवादी विचारों में पूर्ण मतैक्य नहीं है। दोनों के सोचने के तरीके भिन्न हैं और इस कारण से दोनों में दृष्टिभेद भी है। गांधी-विचार-धारा का वर्तमान आर्थिक रचना के प्रति केवल उसके पूंजीवादी स्वरूप के कारण ही विरोध नहीं है; किन्तु एक हद तक वह बड़े पैमाने पर चलने वाले आधुनिक उद्योगवाद के खिलाफ भी है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए इस बात की आवश्यकता है कि उसकी रचनात्मक शक्तियों और प्रवृत्तियों को बढ़ाने का पूरा-पूरा अवसर मिले। इसका सबसे सरल और स्वाभाविक उपाय यह होगा कि हमारी अर्थ-रचना का आधार ही ऐसा हो कि मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए जो कार्य और उद्यम करे, उसी के द्वारा उसकी रचनात्मक शक्तियों और उसके व्यक्तित्व का भी विकास हो सके। इसके लिए उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है, ताकि प्रत्येक व्यक्ति को उत्पत्ति के कार्य में अपनी इच्छानुसार रचना करने का पूरा मौका मिल सके। किन्तु जब उत्पत्ति बड़े पैमाने और केन्द्रीकरण के आधार पर की जाती है, तो उत्पत्ति-कार्य में लगे हुए श्रमिकों को अपने व्यक्तित्व और रचना-शक्ति का विकास करने का कोई अवसर नहीं मिलता। उनका कर्तव्य तो यन्त्रवत् दूसरों के द्वारा बनायी हुई योजना के अनुसार काम करना मात्र होता है। परन्तु समाजवाद केन्द्रित उत्पत्ति से मिलने वाले आर्थिक लाभ को छोड़ने को तैयार नहीं है

और हर हालत में विज्ञान का उत्पत्ति कार्य में उपयोग करने के पक्ष में है। इस कारण दोनों में एक हद तक मतभेद होना स्वाभाविक है। गांधीवाद का यह कहना है कि समाजवाद चाहे पूँजीवाद के आर्थिक दुष्परिणामों का अन्त भले ही कर दे; किन्तु मनुष्य के विकास में तो वह पूँजीवाद की तरह ही बाधक रहेगा। गांधीवादियों की यह भी मान्यता है कि उत्पत्ति के विकेन्द्रीकरण के द्वारा पूँजीवाद के आर्थिक दोषों का भी अन्त किया जा सकेगा। इस विषय पर तनिक विस्तार के साथ विचार करना आवश्यक है।

पहले हम श्रमिक वर्ग के शोषण के प्रश्न पर ही अपने विचार प्रकट करेंगे। केन्द्रित उत्पादन क्रिया में मजदूरों का शोषण इस कारण से होता है कि उनका स्थान उसमें दास का है, और यह अनिवार्य भी है; क्योंकि बड़े पैमाने पर किये जाने वाले उत्पादन के लिए जितने विशाल साधन और जो योग्यता चाहिए, वह श्रमिक वर्ग के पास कहां है? किन्तु यदि उत्पादन का विकेन्द्रीकरण हो जाता है और छोटे पैमाने पर गृह-उद्योगों द्वारा उत्पादन होने लगता है, तो प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र धन्धा खड़ा कर सकेगा और मजदूरी पर काम करने वाले लोगों का आज की तरह फिर कोई पृथक् वर्ग नहीं रहेगा। इस प्रकार समाज से वर्ग-शोषण का अन्त भी हो जायगा। जिस हद तक समाज में इस नियम का अपवाद होगा, उस हद तक शोषण के लिए स्थान रहेगा। यहां यह बात मान ली गयी है कि उजरत पर काम करने वालों की सौदा करने की शक्ति काम देने वालों की अपेक्षा कम होगी। मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास की दस्तकारी अवस्था का इतिहास यदि हम देखें, तो हमें इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भी अधिकांश जनता का अल्पसंख्यक कार्यकुशल दस्तकारों, स्वामी दस्तकारों और उन किसानों द्वारा, जिनके पास पर्याप्त मात्रा से भूमि थी, शोषण होता था। इस बात की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए समाज को यह व्यवस्था करनी होगी कि प्रत्येक परिवार को जीवन-निर्वाह के स्वतन्त्र साधन उपलब्ध हों। यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि उक्त व्यवस्था के लिए हमारे देश में भूमि-सम्बन्धी वर्तमान व्यवस्था तथा बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग-धन्धों में क्रान्तिकारी परिवर्तन

करना होगा और पूँजीपतियों और जमींदारों को अपने मौजूदा स्थिर स्वार्थों को छोड़ने के लिए तैयार करना होगा। इसमें जो व्यावहारिक कठिनाइयां आयेंगी, उनको हमें हल करना होगा। अतः सिद्धान्त की दृष्टि से यह कह जा सकता है कि उत्पत्ति का ऐसा विकेन्द्रीकरण, जिसके अनुसार प्रत्येक परिवार स्वतन्त्र रूप से अपने अपने कार्य का स्वामी हो सके, मौजूदा वर्ग शोषण को मिटाने का एक सफल उपाय होगा। इस दशा में भी राज्य को समाज के सारे आर्थिक जीवन को एक निश्चित योजना के अनुसार चलाना होगा।

दूसरा प्रश्न उत्पत्ति और उपभोग में उचित साम्य स्थापित करने का है। उत्पत्ति के विकेन्द्रीकरण से यह प्रश्न कहां तक हल हो सकता है, इस पर विचार करना चाहिए। विकेन्द्रीकरण का अर्थ यह है कि जहां तक सम्भव हो सके, उत्पादक अपनी और अपने गांव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही उत्पादन करे, और इस प्रकार कुछ अंशों में तो प्रत्येक व्यक्ति, और अधिकांश आवश्यकताओं का जहां तक सम्बन्ध है, प्रत्येक गांव स्वावलम्बी हो और प्रान्त, देश और विदेशों में उत्पन्न वस्तुओं पर क्रमानुसार कम से कम निर्भर रहा जाय। यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब कि प्रत्येक व्यक्ति यह नियम बना ले कि वह प्रथम अपनी और अपने गांव की बनी वस्तुओं का उपयोग करेगा। दूसरे शब्दों में यही स्वदेशी धर्म है। साथ ही उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण भी प्रत्येक व्यक्ति को स्वदेशी धर्म पालन करने के लिए एक हद तक विवश करेगा; क्योंकि छोटे पैमाने पर उत्पत्ति होने के कारण बाहर की बनी हुई वस्तुओं का उपलब्ध होना तब आज-सा सरल नहीं रहेगा। इससे यह स्पष्ट है कि विकेन्द्रीकरण द्वारा उत्पत्ति और उपभोग में उचित साम्य स्थापित करने का प्रश्न भी हल हो सकेगा। परन्तु व्यक्तिगत उत्पत्ति होने के कारण इस बात की सम्भावना अवश्य रहेगी कि समाज के हित को ध्यान में रखते हुए उत्पत्ति में आवश्यक तथा अनावश्यक दृष्टि का विचार न रहे। यह अनिवार्य नहीं होगा कि उत्पादक पहिले उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करें, जो कि आवश्यक हैं और उसके बाद आराम और विलासिता की वस्तुओं का उत्पादन किया जाय; क्योंकि उत्पादन-कार्य आखिरकार लाभ का ख्याल रखकर

ही तो किया जायगा। समाजवादी व्यवस्था में इस प्रकार का दोष नहीं रहेगा; क्योंकि उत्पादन-कार्य की सारी योजना समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही तैयार की जायगी। यह ठीक है कि विकेन्द्रीकरण के आधार पर जो अर्थ-रचना होगी, उसमें भी यह दोष, वर्तमान पूँजीवादी केन्द्रीकरण उत्पत्ति के आधार पर स्थापित अर्थ-रचना में जिस मात्रा में वह हमें मिलता है उससे कहीं कम होगा।

गांधीवाद का यह आरोप कि व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से समाजवाद और पूँजीवाद में कोई भेद नहीं होगा, एक सीमा तक सही है। परन्तु जैसे-जैसे उद्योग धन्धों के सञ्चालन में बिजली की शक्ति का उपयोग बढ़ता जायगा और कलें अपनी नवीन अवस्था में प्रगति करती जायगी वैसे वैसे औद्योगिक उत्पत्ति का यह दोष कम होता जायगा।

बड़े-बड़े कल-कारखानों द्वारा उत्पादन करने के विरुद्ध एक कारण यह भी दिया जाता है कि भारतवर्ष के सामने प्रश्न श्रम में बचत करने का नहीं है और देश में पूँजी की कमी है। इस दलील में दो बातों को मिला दिया गया है, जो कि विचार स्पष्टता की दृष्टि से अनुचित है। भारतवर्ष में श्रम की अधिकता के कारण मशीनरी का उपयोग करना आवश्यक नहीं है, यह एक बात है। इस बात का निर्णय करने से पहले हमें यह ध्यान में रखना होगा कि एक औसत भारतीय के जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिए उसके वर्तमान रहन-सहन के परिमाण को यथेष्ट ऊंचा उठाने की आवश्यकता है। उत्पत्ति की वर्तमान मात्रा में काफी वृद्धि किये बिना यह सम्भव नहीं हो सकता। अतः हमारी भावी उत्पादन-व्यवस्था में मशीन का क्या स्थान होना चाहिए इसका निर्णय करने के लिए यह देखना होगा कि उत्पत्ति की मात्रा में आवश्यक वृद्धि के लिए हमें मशीन के सहयोग की किस हद तक जरूरत होगी। इस सम्बन्ध में जन-संख्या की वृद्धि का ध्यान भी रखना होगा।

दूसरी बात का सम्बन्ध पूँजी के अभाव से है। इस विषय में इतना लिखना यथेष्ट होगा कि औद्योगिक पूँजी की समस्या बैंकिङ्ग और साख-व्यवस्था में आवश्यक सुधार करके तथा अन्य प्रकार से हल करना इतना कठिन कार्य

नहीं है कि इस वजह से देश का औद्योगीकरण ही न हो सके।

उत्पत्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध यह आक्षेप भी किया जाता है कि वह शक्ति के केन्द्रीकरण का एक प्रबल कारण होगा। जिन लोगों के हाथ में उत्पत्ति की समस्त योजना बनाने का कार्य होगा, वे यदि चाहें तो अपनी इस महान् शक्ति का सरलता से दुरुपयोग कर सकेंगे। यह आक्षेप सही है और राज्य-संस्था पर समाज का नियन्त्रण किस हद तक इस खतरे को कम कर सकेगा, इस बारे में निश्चित उत्तर देना कठिन है। युद्ध काल में केन्द्रित उद्योगों को जो खतरा है, उससे हम परिचित हैं। चीन में वर्तमान युद्ध-काल में गृह-उद्योगों को जो प्रोत्साहन दिया गया है, वह इस बात का दूसरा प्रमाण है। फिर भी हमारी भावी अर्थ-रचना का निर्माण केवल युद्ध-कालीन अवस्था को ही ध्यान में रख कर नहीं किया जा सकता। इसके लिए आवश्यक गुञ्जाइश हमें अवश्य रखनी होगी।

केन्द्रित उत्पत्ति के उपर्युक्त दोषों को स्वीकार करते हुए भी, आज यह सम्भव नहीं है कि हमारी अर्थ-रचना में उनको कोई स्थान ही प्राप्त न हो। कुछ उद्योग ऐसे हैं, जिनके बिना आधुनिक समाज का काम नहीं चल सकता और जिनका विकेन्द्रीकरण भी सम्भव नहीं है। देश की रक्षा से सम्बन्ध रखने वाले उद्योग-धन्धों, लोहे और फौलाद के कारखानों, बिजली, रेल, नहर आदि कामों को बड़े पैमाने पर स्थापित करना अनिवार्य है। गांधीवाद भी आज इस अनिवार्यता को स्वीकार करता है और इसलिए ऐसे उद्योगों के समाजीकरण के पक्ष में वह भी है।

इसी प्रकार कई उद्योग ऐसे भी हो सकते हैं, जो गृह-उद्योग के रूप में ही चलाये जा सकते हैं। व्यक्तिगत पसन्द अथवा विशेष कला तथा हुनर से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों की इस श्रेणी में गिनती होगी। समाजवादी भी ऐसे उद्योगों को गृह-उद्योग के रूप में चलाने के पक्ष में हैं। इतना होते हुए भी अर्थ-व्यवस्था में केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग के सापेक्षिक स्थान के सम्बन्ध में गांधीवाद और समाजवाद में जो विचार-भेद पाया जाता है, उस पर एक दृष्टि डालनी चाहिए।

गांधी-विचार-धारा केन्द्रित उत्पत्ति को समाज की अर्थ-रचना में कम से कम स्थान देने के पक्ष में है। उदाहरण के लिए सार्वजनिक उपयोग से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों, रेलों, बिजली के कारखानों और पानी पहुँचाने के कारखानों आदि को बड़े पैमाने पर ही सङ्गठित करना होगा। इसी प्रकार प्राकृतिक साधनों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से उद्योग भी बड़े पैमाने पर ही चलाने होंगे। इन उद्योग-धन्धों का काम प्राकृतिक साधनों को इस योग्य बना देना होगा कि एक स्वतन्त्र दस्तकार कच्चे माल के रूप में उनका प्रयोग कर सके। लोहा और फौलाद उत्पन्न करने के कारखाने तथा लकड़ी और जङ्गल की कई तरह की छोटी-छोटी पैदावार प्राप्त करने के लिए स्थापित कारखाने इस तरह के उदाहरण हैं। इन केन्द्रित उद्योगों का काम होगा शिल्पकार के लिए प्रारम्भिक कच्चा माल तैयार करना। इस कच्चे माल की सहायता से शिल्पकार उपभोग के लिए वस्तुयें तैयार करेगा। बड़े-बड़े कारखानों में लोहा और फौलाद तैयार किया जायगा; किन्तु लोहे के औजार आदि बनाने का काम स्वतन्त्र गृह-उद्योगों के रूप में होगा। इसी प्रकार जंगल की लकड़ी को काम के योग्य बड़े-बड़े कारखानों में बनाया जायगा और उनसे चर्खे, फरनीचर और खिलौने गृह-उद्योग के द्वारा तैयार किये जायंगे। छोटे पैमाने पर होने वाली उत्पत्ति को आर्थिक दृष्टि से अधिक सफल और वैज्ञानिक रूप देने के लिए कई ऐसे कार्य होंगे, जिनके सम्बन्ध में राज्य को दस्तकार की सहायता करनी होगी; क्योंकि ये कार्य उसकी शक्ति के परे होंगे। आवश्यक पूँजी की व्यवस्था करना, वस्तुओं के क्रय-विक्रय का प्रबन्ध करना तथा उत्पादन विधि में सुधार करने की दृष्टि से खोज और प्रयोग करना, कुछ ऐसे ही कार्य हैं। इस प्रकार की उद्योग-व्यवस्था को ही अंगरेजी में हारिजेण्टल प्लानिङ्ग का नाम दिया गया है। इसमें और समाजवादी व्यवस्था में यह अन्तर है कि जहां उक्त व्यवस्था में राज्य अथवा समाज उत्पादन-कार्य में केवल खास-खास स्थानों पर ही दस्तकार की सहायता करेगा, वहां समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सारी की सारी जिम्मेदारी राज्य ही अपने पर ले लेता है और फलतः व्यक्ति का कार्य एक मशीन के पुर्जे के जैसा ही रह जाता है तथा

उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता।

समाजवाद का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। जीवन के परिमाण को ऊंचा उठाने के लिए और बढ़ती हुई जन-संख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उत्पत्ति में जितनी वृद्धि होने की जरूरत है, वह मशीन के पूरे-पूरे सहयोग के बिना समाजवाद सम्भव नहीं मानता। इसके अतिरिक्त समाज का प्रत्येक स्त्री-पुरुष समाज की सांस्कृतिक, साहित्यिक और कला सम्बन्धी प्रगति में उसी समय भाग ले सकेगा, जब उसे अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरा करने में अधिक समय न देना पड़े। इस दृष्टि से समाजवाद मशीन के उपयोग की महान् आवश्यकता का कायल है। अतः समाजवाद का मत है कि अधिकांश प्रारम्भिक और आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तो उत्पत्ति-कार्य में मशीन का पूरा-पूरा उपयोग करके की जाये। इन आवश्यकताओं के उत्पादन में मशीन का उपयोग आर्थिक दृष्टि से भी अधिक से अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा, क्योंकि इनकी मांग बड़ी मात्रा में होगी। इसी के साथ जो अन्य कार्य हैं, जिनमें मनोरञ्जन और कला को भी यथेष्ट स्थान मिल सकता है, मनुष्य के व्यक्तिगत प्रयत्नों पर छोड़ दिये जायें। जैसे अनाज की पैदावार और पहनने के लिए आवश्यक साधारण ऊनी और सूती कपड़े की उत्पत्ति बड़े पैमाने पर मशीन-उद्योग के रूप में की जाय जब कि फल और साग की खेती तथा ऊंचे दर्जे के रुचिपूर्ण डिजाइन के कपड़े, साड़ी, शाल-दुशाले आदि व्यक्तिगत उत्पत्ति के लिए छोड़े जा सकते हैं। इस बंटवारे के पीछे सिद्धान्त यह है कि जहां तक आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न है, समाज को सङ्गठित प्रयत्न द्वारा उसका समुचित प्रबन्ध करना ही चाहिए। गांधीवादी विचार-धारा इस प्रश्न को दूसरे ही दृष्टिकोण से देखती मालूम पड़ती है। उसके अनुसार शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से सब से उत्तम बात यह होगी कि जहां तक सम्भव हो सके, उत्पादन-कार्य और विशेष तौर से जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखने वाला कार्य समाज में अधिकांश लोगों के स्वतन्त्र सञ्चालन में ही चले, ताकि केन्द्रित सञ्चालन में शक्ति-सञ्चय के कारण जो दोष आ जाना सम्भव है, उनसे समाज को बचाया जा सके और साथ ही

अधिकतर मामलों में अधिकतर व्यक्ति स्वावलम्बी रह सकें। उनके विचार से उसी दशा में समाज सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकता है।

मशीन द्वारा की जाने वाली उत्पत्ति के सम्बन्ध में गांधीवादी और समाजवादी दृष्टिकोण के भेद को समझने के लिए १५ मार्च, १९४२ के हरिजन (अंगरेजी) में श्री कुमारप्पा के नीचे दिये हुए शब्द उल्लेखनीय हैं, जिन्हें उन्होंने लुगदी तैयार करने के लिए मशीन का उपयोग करने के बारे में सफाई देते हुए लिखा है—"अत्यन्त विशेष अवस्थाओं में, जब जीवन और धन्धे के विकास के लिए कुछ ऐसी क्रियाओं को करना हो जो हाथ से नहीं की जा सकतीं, जब उपलब्ध कच्चे माल का मशीन के प्रयोग द्वारा पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता हो, जब क्रियायें इतनी भारी और कठिन हों कि उनके करने के लिये मनुष्य का उपयोग करना निर्दयतापूर्ण हो, जब कि पूंजी तथा अन्य आवश्यक साधन, जो उस क्रिया को करने के लिये चाहिए, किसी दस्तकार की शक्ति के परे की बात हो और जब मशीन का प्रयोग शोषण रहित आधार पर करना सम्भव हो, तब मशीन का प्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि श्री कुमारप्पा मशीन का उपयोग अत्यन्त विशेष दशा में ही करने के पक्ष में हैं, जब कि समाजवादी इस मामले में कहीं आगे बढ़े हुए हैं। दृष्टि-भेद के कारणों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

अब प्रश्न यह है कि समाजवाद और गांधीवाद में से किसके आधार पर हमें अपनी भावी अर्थ-रचना का भवन खड़ा करना चाहिए? इन पंक्तियों के लेखक का यह निश्चित मत है कि केवल सिद्धान्त के आधार पर इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भावी अर्थ-रचना में दोनों का उपयुक्त समन्वय करना होगा। अन्त में तो वही अर्थ-रचना समाज के लिये सचमुच हितकर होगी जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिये रहन-सहन का स्वास्थ्यकर परिणाम सुलभ हो सकेगा, व्यक्तित्व के विकास के लिए यथेष्ट गुंजाइश होगी और जो समाज से शोषण का अन्त करने में सफल होगी; ऐसी व्यवस्था आर्थिक, आध्यात्मिक और न्याय, तीनों दृष्टियों से श्रेष्ठ होगी और इसके निर्माण में समाजवाद और गांधीवाद दोनों ही का उचित हाथ होगा।

अन्त में एक बात स्पष्ट कर देना और आवश्यक है। उक्त सम्पूर्ण व्यवस्था का निर्माण उसी समय सम्भव हो सकता है, जब देश स्वतन्त्र हो; परन्तु आज की स्थिति में भी तब तक राष्ट्र-प्रेमी जनता ग्रामोद्योगों के पुनरुत्थान में अपना योग दे सकती है। किसी भी भावी कल्पना योजना और आदर्श का आधार लेकर अपने वर्तमान कर्त्तव्य-पालन से मुंह मोड़ना श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। हमारे ग्रामोद्योगों की उन्नति हमारे भावी रचना के कार्य को अधिक सरल ही बनायेगी, इसमें मतभेद के लिए गुञ्जाइश नहीं है।

विश्वामित्र : जून १९४२

: ३ :

भावी समाज-निर्माण की समस्या

आज सारे संसार के सामने एक ही प्रश्न है जिसका महत्त्व दूसरे किसी प्रश्न के मुकाबले में कहीं अधिक है। यह प्रश्न है हमारे भावी समाज-निर्माण का। हमारे विचारक, राजनीतिज्ञ और अर्थ शास्त्री इस प्रश्न को लेकर परेशान से हैं। पिछले वर्षों में इस सिलसिले में जितना साहित्य प्रकाशित हुआ है उतना संभवतः और किसी प्रश्न को लेकर नहीं हुआ होगा। हमारे देश में इस विषय पर काफी चर्चा चल रही है। यह आवश्यक है इस सम्बन्ध में हमारे विचार स्पष्ट और सुलझे हुए हो। अतः मैं भावी समाज-निर्माण-संबंधी कुछ अनिवार्य पहलुओं पर यहाँ अपने विचार रखने का प्रयत्न करूंगा।

आज सारे विश्व में अशांति का साम्राज्य है। सब लोग समाज की जो वर्तमान स्थिति है उससे संतुष्ट नहीं हैं। वे उसमें समाज के सुख और शांति की दृष्टि से परिवर्तन की अनिवार्यता को महसूस करते हैं। इसी में से भावी समाज-निर्माण का प्रश्न पैदा होता है। अगर हमको समाज की मौजूदा व्यवस्था संतोषप्रद नही मालूम पड़ती तो स्वभावतः हम यह चाहेंगे कि मौजूदा व्यवस्था की जगह कोई नई व्यवस्था हो जो हमारे ख्याल से अधिक उत्तम होगी।

भावी समाज-निर्माण का यह सवाल जब हमारे सामने आता है तो पहली बात जो हमारे ध्यान में आती है वह यह कि समाज के निर्माण का यह प्रश्न केवल निर्माण का ही नहीं बल्कि उसके ध्वंस का भी है। अगर हमें नया समाज बनाना है तो उसका लाजिमी नतीजा यह है कि हमें मौजूदा समाज मिटाना है, क्योंकि यहां एक बात साफ तौर से समझ लेना निहायत जरूरी है, और वह यह कि हमारी मौजूदा जरूरत यह नहीं है कि समाज की मौजूदा व्यवस्था में छोटे-मोटे परिवर्तन किये जाँय। बल्कि यह है कि उसमें बुनियादी तब्दीलियां की जायँ। इसका मतलब यह है कि मौजूदा व्यवस्था का अन्त करना होगा।

अगर मौजूदा व्यवस्था को बदलना है तो यह कैसे हो ? जाहिर है कि आज की व्यवस्था समाज के कुछ वर्गों के लिए उनके संकीर्ण स्वार्थ की दृष्टि से हितकर है। वे उसको क़ायम रखना चाहते हैं। इस व्यवस्था को बदलने के लिये उनके विरोध को हमें मिटाना होगा। यह विरोध कैसे खत्म किया जाय यह एक पेचीदा सवाल है इतिहास ने अब तक जो तरीक़ा बताया है वह हिंसा का तरीक़ा है। वह सशस्त्र क्रान्तियों का तरीक़ा है। जो वर्ग मौजूदा व्यवस्था को बदला चाहते हैं वे शस्त्रों की मदद लेकर विरोधी वर्गों को दबायें। यह तरीका समाज और विज्ञान की मौजूदा परिस्थिति में अनुपयुक्त है। जिनके हाथ में शक्ति है उन्होंने हिंसा को इतना संगठित स्वरूप दे दिया है कि उसके मुकाबले में हिंसा का संगठन करना दलित और शोषित समुदाय के लिए असंभव है। इसलिए मेरी राय में व्यावहारिकता के आधार पर हिंसा के तरीक़ों को हमें छोड़ना होगा। यहां पर कई लोग एक भ्रम उत्पन्न करने वाली दलील देते हैं कि इस प्रकार की अहिंसा तो कमजोरों की अहिंसा हुई जो हरगिज कारगर नहीं हो सकती। यह दलील सही नहीं। कमज़ोरी का सवाल नहीं है, यह तो अक्लमंदी का सवाल है।

दूसरा तरीक़ा विरोध को खत्म करने का गांधीजी का है। उसे अहिंसा का तरीक़ा कह सकते हैं। इसमें विरोधी को हम अपने प्रेम, सद्भावना, त्याग और बलिदान के आधार पर सत्य का दर्शन कराने की आशा रखते हैं और इस प्रकार हमारे और उसके बीच में जो भेद-दृष्टि है उसको मिटाने की कल्पना करते हैं। इस तरीके में असल प्रश्न वृत्ति का है। क्योंकि अहिंसा मूलतः हमारी वृत्ति का द्योतक है न कि हमारी क्रिया की। फिर भी बड़े पैमाने पर अहिंसक वृत्ति का प्रयोग करने के लिये क्रिया सम्बन्धी कुछ मर्यादाओं को स्वीकार करना आवश्यक मालूम पड़ता है। गांधीजी के इस तरीके से कई लोगों को तात्विक मतभेद है और मानव विकास की जिस अवस्था में वह आज है, उसको ध्यान में रखते हुए, तात्विक मतभेद की बात छोड़ दें, तो भी यह तरीका आज कइयों को व्यावहारिक नहीं मालूम पड़ता। फिर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारा प्रश्न 'आज' का है 'कल' का नहीं। हम निश्चित

काल में निश्चित परिणाम चाहते हैं और इस वजह से भी हमको अपने साधनों की मर्यादाएं तय करनी पड़ेंगी। अब सवाल यह उठता है कि अगर हिंसा का तरीका भी व्यावहारिक नहीं और अहिंसा का भी, तो हम किस तरीके को काम में लायें? आज के समाज-शास्त्री के सामने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। इतना निश्चित है कि हमारा तरीका ऐसा होना चाहिए जिसमें एक ओर इस बात के लिए गुंजाइश हो कि विरोधी के विरोध को उसकी इच्छा के विरुद्ध भी हम मिटा सकें और दूसरी ओर हमारा विरोध शस्त्रों के आधार पर न हो। दूसरे शब्दों में निःशस्त्र प्रतिकार का सफल 'टेकनिक' हमको निकालना होगा। इस 'टेकनीक' का तफसीली स्वरूप व्यवहार में ही प्रकट हो सकता है और होगा। यही, न सिर्फ भारतवर्ष लेकिन दुनिया के समस्त दलित और शोषित समाज के लिए, एक-मात्र मार्ग है जिसका उन्हें साहस और बहादुरी के साथ अनुसरण करना होगा।

समाज की मौजूदा व्यवस्था को बदलने के बाद, हमारे सामने समाज की नई व्यवस्था बनाने का प्रश्न आता है। इस प्रश्न के अनेक पक्ष हैं। प्रायः एक प्रश्न हमारे सामने आता है और वह यह है कि हमारे संगठन का आधार केन्द्रीकरण हो अथवा विकेन्द्रीकरण हो। विकेन्द्रीकरण के कई गुण हैं जिसमें सबसे बड़ा यह है कि उसमें किसी भी प्रकार की सत्ता का केन्द्रीकरण नहीं हो सकता और इस वजह से सत्ता के दुरुपयोग से होने वाला शोषण भी उसमें सम्भव नहीं। वैसे देखा जाय तो केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण में प्रकार-भेद नहीं है, सीमा-भेद है। समाज की भावी व्यवस्था में हमारा जोर केन्द्रीकरण की ओर है या विकेन्द्रीकरण की ओर, इसका निर्णय मेरी राय में हमारे समाज-निर्माण के उद्देश्य के आधार पर होना चाहिए।

भावी समाज-निर्माण का उद्देश्य इन तीन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है:—उत्पादक की हैसियत से व्यक्ति की आर्थिक सुरक्षा (Security) और स्वतन्त्रता (Freedom) चाहिए और उपभोक्ता की हैसियत से उसे अवकाश (Leisure) चाहिए ताकि वह आर्थिक सुरक्षा और स्वतन्त्रता को व्यवहार में ला सके। दूसरे शब्दों में हम चाहते हैं कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को

रहन-सहन का एक सभ्य और उचित दर्जा प्राप्त हो, जिसके लिये हमें यह ध्यान रखना होगा कि उसकी आवश्यकता पूर्ति के वास्ते आवश्यक मात्रा में धन उत्पन्न हो सके। इसके लिए धन को उत्पन्न करने के केन्द्रित तरीकों की आवश्यकता पड़ेगी। दूसरी ओर हम चाहेंगे कि व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज में जो व्यवस्था वह खड़ी करता है उससे दब न जाय। वह यह महसूस कर सके कि उसका समाज में स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह किसी व्यवस्था का एक मशीन-जैसा पुरजा मात्र नहीं है। इसके लिए विकेन्द्रीकरण का महत्त्व समाज की रचना में है। अवकाश के लिये भी हमें धन की उत्पत्ति के उन साधनों का प्रयोग करना होगा जिनसे समय बचता है, और आज तो वे कई मामलों में केन्द्रीकरण के साधन हैं। सारांश यह है कि समाज की उपर्युक्त त्रिमुखी जरूरत पूरा करने के लिए हमको केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण का एक व्यावहारिक समन्वय करना होगा। यहां एक बात ध्यान में रखने की और है, और वह यह कि समाज की पूँजीवादी व्यवस्था के कारण अब तक की विज्ञान की खोजें केन्द्रीकरण की दिशा में हैं और इसी वजह से केन्द्रीकरण और वैज्ञानिक शक्ति का उपयोग पर्यायवाची शब्द बन गये हैं। लेकिन समाज की भावी व्यवस्था में यह बिल्कुल संभव है कि वैज्ञानिक आविष्कारों और खोजों की दिशा विकेन्द्रीकरण की ओर हो। हमारे उत्पत्ति के वैज्ञानिक से वैज्ञानिक तरीके ऐसे हो सकते हैं कि उनके उपयोग के लिए हमको केन्द्रीकरण की आवश्यकता न पड़े। जिस हद तक यह संभावना व्यवहार में पूरी हो सकेगी उसी हद तक केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के समन्वय का प्रश्न भी सरल हो सकेगा।

जीवन साहित्य : फरवरी १९४६

: ४ :

आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न

भारतवर्ष एक नये युग के द्वार पर खड़ा है। ऐसा विश्वास किया जा रहा है कि देश अपनी राजनैतिक दासता से शीघ्र ही मुक्त होगा। यह ठीक है कि निकट भविष्य में हमारे सामने अनेक प्रकार की उलझनें और कठिनाइयां आ सकती हैं और हमें अपनी पूरी शक्ति, दूरदर्शिता, संयम तथा दृढ़ता से उनका मुकाबला करना होगा। फिर भी हमें एक नये युग का निर्माण तो करना है; और यह केवल भारतवर्ष की बात नहीं है। यह प्रश्न तो सारे संसार का प्रश्न है। पूँजीवादी उद्योगवाद के आधार पर जिस सभ्यता का लगभग २५०-३०० वर्ष पहले सूत्रपात हुआ था। वह आज नाकाफी साबित हो चुकी है और मानव प्रगति के मार्ग में एक व्यापक बाधा के रूप में उपस्थित है। अपने आंतरिक विरोधों के कारण इस पूँजीवादी सभ्यता का अन्त निश्चित है। अस्तु, प्रश्न यह है कि जिस नये युग का स्वप्न आज का विश्व देख रहा है उसको मूर्तरूप कैसे दिया जाय? भारतवर्ष विश्व का एक अविभाज्य अङ्ग है और उसके सामने भी मूल प्रश्न यही है।

जिस नये युग की हम कल्पना करते हैं वह कैसा हो, इस सम्बन्ध में विचारशील व्यक्तियों में कोई बड़ा मतभेद नहीं है। सब चाहते हैं कि आनेवाले जमाने में प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समस्त साधन समान-रूप से उपलब्ध हों, व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा राष्ट्र का राष्ट्र द्वारा शोषण समाप्त हो, और सारे समाज का जीवन सुखी समृद्ध हो और मनुष्य अपने विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके। इस आदर्श को जब हम कार्यान्वित करने की बात सोचने बैठते हैं, तो हमारे सामने समाज की व्यवस्था का प्रश्न आता है। समाज की सारी व्यवस्था का एक अनिवार्य आधार आर्थिक व्यवस्था है। यही कारण है कि समाज के विद्यार्थी के सामने आर्थिक व्यवस्था की समस्या हमेशा एक महत्त्वपूर्ण समस्या रही है। वह आज भी है, और हमेशा की

अपेक्षा कहीं अधिक है। उस समस्या का उचित हल हमको निकालना है। भारतवर्ष को मिलने वाली आजादी जनता की आजादी हो इसके लिए भी यह आवश्यक है।

समाज-व्यवस्था के प्रश्न पर जब हम गहराई से विचार करते हैं तो हमारे सामने एक और नया प्रश्न उपस्थित होता है। वह है जीवन के प्रति हमारे दर्शन का। ऊपर ऊपर से सोचने पर चाहे हम यह अनुभव करें कि अर्थशास्त्र का 'दर्शन' से क्या सम्बन्ध? एक सर्वथा व्यावहारिक और दुनियादार और दूसरा केवल विचार-क्षेत्र में रहने वाला व्यक्ति जिसका दुनियादारी से कोई सम्बन्ध नहीं। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। सच्चा अर्थशास्त्री जीवन के एक-न-एक दर्शन को स्वीकार किये बिना आगे नहीं बढ़ सकता। जीवन का विभाजन सिद्ध नहीं है, वह तो व्यवहार है और प्रत्येक व्यवहार की भाँति इस व्यवहार की भी यह मर्यादा है कि उसे सिद्धान्त की सीमा में रहना है। सिद्धान्त एक केन्द्र विन्दु है जिसके चारों ओर व्यवहार घूमता है, और यद्यपि उसका व्यवहार के साथ कभी ऐक्य नहीं होता और वह सिद्धान्त से सर्वथा पृथक् और अतः उससे भिन्न होता है, परन्तु इतने पर भी उसकी दृष्टि सिद्धान्त की ओर रहना आवश्यक है और उसके साथ उसका सामंजस्य भी।

प्रायः यह कहा जाता है कि पाश्चात्य सभ्यता का आधार 'भौतिकवाद' है और यही उसका अभिशाप है, तथा हमारी प्राचीन सभ्यता का आधार 'अध्यात्मवाद' था और इसी में उसकी श्रेष्ठता थी। समाजवादी मानव-विकास के प्रति ऐतिहासिक दृष्टि वाले लोग इस मत को सही नहीं मानते। उन्हें इस मत में इतिहास के प्रति भौतिक दृष्टि का विरोध दिखाई पड़ता है। मेरा विचार ऐसा नहीं है। इतिहास के प्रति भौतिक दृष्टि ही हमें इस मत को वैज्ञानिक दृष्टि से समझाने में सहायता पहुँचाती है। पाश्चात्य सभ्यता का आधार पूँजीवादी उद्योगवाद है यह ऊपर लिखा जा चुका है। पूँजीवादी उद्योगवाद का जन्म मनुष्य की वैज्ञानिक विजयों से हुआ। उसने अपने आपको प्रकृति का विजेता समझा। उत्पत्ति के नये-नये साधनों का आविष्कार

हुआ और पूँजीवादी उद्योगवाद उनका उपभोग कर सके इसके लिए मनुष्य-मात्र में जीवन के प्रति यह दृष्टि उत्पन्न होना अनिवार्य था कि जीवन का लक्ष्य आवश्यकताओं की बेरोक वृद्धि करना मात्र है। यदि उत्पत्ति-साधन (फोर्सेज ऑव प्रोडक्शन) विकास की इस अवस्था में न होते, यदि वे मालिक और मजदूर के उत्पत्ति सम्बन्धों (रिलेशन्स ऑव प्रोडक्शन) को जन्म न देते और इनके परिणाम-स्वरूप मनुष्य की उत्पादन-शक्ति का इतना विकास न होता तो कभी जीवन के इस दर्शन का प्रादुर्भाव न होता और जनता पर उसका यह मनोवैज्ञानिक असर नहीं पड़ता कि जीवन का लक्ष्य आवश्यकताओं की अभिवृद्धि मात्र है। जाहिर है कि पाश्चात्य सभ्यता को यदि भौतिक सभ्यता कहा जाय तो ठीक है। इसके विपरीत प्राचीन सभ्यता की जीवन के प्रति दूसरी दृष्टि थी। उसके अनुसार जीवन का ध्येय 'आवश्यकताओं की अभिवृद्धि' नहीं था, वह हो भी नहीं सकता था। यह स्वाभाविक था कि भौतिक तृप्ति के सीमित क्षेत्र के कारण मनुष्य का विचार दूसरी दिशा में आगे बढ़ता। इसी दूसरी दिशा को हमने 'अध्यात्मवाद' का नाम दिया। हमारे सामने प्रश्न अब यह है कि भविष्य में जीवन के प्रति किस दृष्टिकोण को मनुष्य अपनायेगा? आज उसके सामने दोनों दृष्टिकोणों का अनुभव है, दोनों के हानि और लाभों से वह परिचित है। मालिक और मजदूर के उत्पत्ति-सम्बन्ध अपने आन्तरिक विरोध का कारण आज अन्तिम घड़ियां गिन रहे हैं और भावी समाज-रचना का आधार वे उत्पत्ति-सम्बन्ध होंगे जिनमें मालिक और मजदूर जैसे वर्ग भेद को कोई स्थान न होगा। अस्तु, आने वाले युग के दो मुख्य लक्षण होंगे—एक, वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर उन्नत और विकसित उत्पत्ति-साधन, दूसरे, वर्ग-भेद से रहित सहयोग के आधार पर निर्मित उत्पत्ति-सम्बन्ध। इन ऐतिहासिक परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाला जीवन-दर्शन प्राचीन और नवीन दोनों ही दृष्टिकोणों से भिन्न होते हुए भी इन दोनों का सामंजस्य होगा। यदि उसका लक्षण आवश्यकताओं का पूर्णतया नियमन और नियंत्रण (जो 'आध्यात्मवाद' का मुख्य लक्षण माना जाता है)। नहीं होगा तो उसका लक्षण आवश्यकताओं की अभिवृद्धि भी नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार की अभिवृद्धि का कारण

[पू]ँजीवादी उद्योगवाद है जिसमें व्यवसायी का लाभ ही वह धुरी है जिस पर कि [सा]री अर्थ-व्यवस्था का आधार है। भावी अर्थ-व्यवस्था का ध्येय लाभ न होकर [आ]वश्यकता पूर्ति होगा, और इसलिये बिना सोचे-समझे आवश्यकताओं की [अ]भिवृद्धि करते रहना उस व्यवस्था का ध्येय नहीं हो सकता। उस व्यवस्था में मनुष्य [अ]पने सच्चे ध्येय, व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास को प्राप्त कर सकेगा और वह उन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहेगा जो उक्त ध्येय के लिये आवश्यक हैं। [अ]तः आने वाले नये युग में जीवन के प्रति जो दृष्टि होगी वह प्राचीन-अर्वाचीन [दो]नों ही का एक सुन्दर सामंजस्य होगा। मनुष्य का प्रयत्न आवश्यकताओं को इस प्रकार परिष्कृत करना होगा कि जिससे कि वह उसके व्यक्तित्व का बेरोक [वि]कास कर सके। इस दार्शनिक दृष्टिकोण को सामने रख कर ही हमें अपने आने वाले जमाने की नई आर्थिक व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करना होगा।

हमारी समाज-व्यवस्था जिसके अन्तर्गत अर्थ-व्यवस्था का समावेश हो जाता है, ऐसी होनी चाहिए कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समान रूप से समस्त साधन प्राप्त हों। इस विषय पर थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक है। 'व्यक्तित्व के विकास' का क्या तात्पर्य है? प्रत्येक व्यक्ति में कुछ अपनी प्रकृति प्रदत्त शक्तियां होती हैं। अनुकूल वातावरण और अवसर मिलने पर मनुष्य की ये शक्तियां विकसित की जा सकती हैं और उनके अभाव में ये शक्तियां नष्ट भी हो सकती हैं। अस्तु व्यक्तित्व के विकास के लिए इस प्रकार के अनुकूल वातावरण और अवसर का होना आवश्यक है। इस अनुकूल वातावरण और अवसर के लिए कई शर्तें पूरी होना आवश्यक है। इनको हम तीन प्रकार में विभाजित कर सकते हैं—'सुरक्षा' (सीक्योरिटी) 'स्वतन्त्रता' (फ्रीडम) और 'अवकाश' (लेज़र) जो समाज यह चाहता है कि उसके प्रत्येक सदस्य को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा-पूरा मौका मिले उसे अपनी समाज-व्यवस्था ऐसी बनानी होगी जिसमें उपर्युक्त तीनों बातों के लिए यथेष्ट व्यवस्था हो।

'सुरक्षा' से हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को आधुनिक सभ्य-समाज के अनुरूप रहन-सहन का दर्जा प्राप्त होना चाहिए। इसके लिए यथेष्ट

मात्रा में उत्पादन और न्यायपूर्ण वितरण की आवश्यकता होगी। 'सुरक्षा' का प्रश्न समाज के आर्थिक हित का प्रश्न है। परन्तु मनुष्य को सुखी जीवन के लिए आर्थिक केवल सुरक्षा ही नहीं चाहिए। उसको राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से **'स्वतन्त्रता'** भी चाहिये। मनुष्य का मनुष्यत्व उसकी स्वतन्त्रता में ही है। संक्षेप में, मनुष्य को यह अनुभव करना चाहिये कि वह केवल किसी महान् यन्त्र अथवा व्यवस्था का एक पुर्जा अथवा अंग मात्र नहीं है। बल्कि अपने भाग्य का वह स्वयं निर्माता है और जिस समाज-व्यवस्था में वह रहता है उसका वह संचालक है। इसके अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए जो काम करना पड़ता है उसको करने के बाद उसके पास **'अवकाश'** रहे जिसका उपयोग वह जीवन की उच्चतर प्रवृत्तियों, जैसे कला, साहित्य आदि के लिए कर सके। अस्तु, मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से उसी समाज-व्यवस्था को श्रेष्ठ माना जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के 'सुरक्षा' 'स्वतन्त्रता' और 'अवकाश' की उचित व्यवस्था हो।

उपर्युक्त आदर्श को सामने रख कर ही हमें समाज की आर्थिक-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। समाज में जो पूंजीवादी व्यवस्था आज प्रचलित है वह उक्त आदर्श के अनुकूल नहीं है यह तो सब लोग स्वीकार करते हैं। स्वयं पूंजीपति भी आज इस बात को कहते हैं कि आर्थिक व्यवस्था पर समाज की हित की दृष्टि से 'राज्य' का नियंत्रण और हस्तक्षेप आवश्यक है। परन्तु एक ओर वे जहाँ राज्य के नियंत्रण की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं वहाँ उनका इस बात पर भी उतना ही जोर है कि व्यक्तिगत व्यवसाय और साहस के लिये यथेष्ट क्षेत्र रहना चाहिये अन्यथा समाज की सारी प्रगति कुण्ठित हो जायगी। अर्थ-शास्त्र के बड़े विद्वान इस प्रकार की मिली हुई (mixed) अर्थ व्यवस्था के समर्थक हैं। इसके विपरीत एक मत यह भी है कि इस प्रकार की मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था मूलतः पूँजीवादी व्यवस्था ही होगी और समाज से शोषण का सर्वथा अन्त करने में समर्थ नहीं होगी। इस सम्बन्ध में एक विद्वान लेखक के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—"यह बात प्रमाणित हो गई है कि

व्यक्तिवादी व्यवस्था के रहते हुए यदि कोई योजना बनाई जायगी तो राजनीतिक, औद्योगिक और सामाजिक सभी प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न होंगी और अलग-अलग विचार करने पर उनमें से चाहे प्रत्येक हल की जा सकने योग्य मालूम पड़े पर वे सब मिल कर एक बहुत बड़ी समस्या उत्पन्न कर देंगी।" अन्यत्र यही लेखक लिखते हैं—"अर्थ-योजना की दृष्टि से थोड़े बहुत परिवर्तन का कोई बड़ा महत्व नहीं है। वास्तव में हमें दो प्रकार की व्यवस्थाओं में से किसी एक को पसन्द करना होगा—व्यक्तिवादी व्यवस्था अथवा पूर्णतया राज्य द्वारा संचालित व्यवस्था।" इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस नई व्यवस्था की हम स्थापना करना चाहते हैं वह पूंजीवादी व्यवस्था से तो सर्वथा भिन्न ही होना चाहिए।

इस नई प्रकार की समाज व्यवस्था की वैज्ञानिक कल्पना सर्व प्रथम कार्ल-मार्क्स और उनके साथी एंगेल्स ने अपने 'कम्यूनिज्म' के द्वारा समाज के सामने रखी। आधुनिक संसार पूंजीवाद का एकमात्र कारगर उत्तर मार्क्सवादी समाज में ही देखता है। इसी को 'वैज्ञानिक समाजवाद' का नाम भी दिया जाता है। वह समाजवाद वर्तमान उद्योगवाद के, जिसका एक मुख्य लक्षण बड़े पैमाने की उत्पत्ति है, विरुद्ध नहीं है। वह तो उत्पत्ति के इस तरीके को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना चाहता है ताकि समाज के उत्पादन में अधिकतम वृद्धि हो सके और जनता के रहन-सहन का दर्जा अधिकाधिक ऊंचा उठाया जा सके। वर्तमान व्यवस्था का दोष उसकी दृष्टि से उद्योगवाद में न होकर उसकी पूंजीवादी व्यवस्था में है और इसीलिए पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर वह समाजवादी व्यवस्था कायम करना चाहते हैं। इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पत्ति के साधनों पर राज्य का अधिकार होगा और किसी भी व्यक्ति को इस बात का अधिकार नहीं होगा कि स्वयं उत्पत्ति के लिए साधन का प्रबन्ध मात्र करे और उजरत पर मजदूरों से उत्पत्ति करा कर उससे लाभ कमायें। इससे स्पष्ट है कि आधुनिक उद्योगवाद में आज जो केन्द्रित उत्पत्ति को महत्व प्राप्त है उससे समाजवाद का केवल विरोध ही नहीं है वरन् वह तो उसको और प्रोत्साहन देना चाहता है।

609

जब से आधुनिक उद्योगवाद का जन्म हुआ तभी से इस विचार-धारा के लोग भी प्रकट होने लगे जिन्होंने इस उद्योगवाद का इस आधार पर विरोध किया कि मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर होने वाली उत्पत्ति मनुष्य की आत्मा के लिए घातक है। इसके कारण समाज को अनेक दुष्परिणामों को उठाना पड़ता है और कारखाने में काम करने वाले मजदूर की दशा एक दास की सी होती है। रस्किन और टालस्टाय इस प्रकार के दो मुख्य विचारक थे। आरम्भ में उद्योग-वाद और उसके पूंजीवादी स्वरूप में स्पष्ट भेद नहीं किया गया था। मार्क्स ने इस भेद को स्पष्ट किया। फिर भी कुछ लोगों की यह मान्यता बनी ही रही कि मशीनों द्वारा उत्पत्ति करने वाले केन्द्रित उद्योग ही दोषपूर्ण हैं। फिर उनकी व्यवस्था पूंजीवादी ढंग से हो अथवा समाजवादी ढंग से। इन लोगों की राय में छोटे पैमाने पर चलने वाले गृह-उद्योग ही समाज के लिए हितकर हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में केन्द्रित उत्पत्ति के मुकाबिले में ये लोग विकेन्द्रित उत्पत्ति का समर्थन करते हैं। विकेन्द्रीयकरण के मत का हमारे देश में पूज्य महात्मा गांधी ने बराबर समर्थन और प्रचार किया है और आज तो देश के सामने यह एक समस्या है कि हमारी भावी आर्थिक व्यवस्था का आधार केन्द्रित उद्योग हो अथवा विकेन्द्रित? एक विचार जो केन्द्रीकरण का आग्रह है यद्यपि एक हद तक विकेन्द्रीकरण को भी वह स्थान देता है। इसी प्रकार दूसरे पक्ष का आग्रह विकेन्द्रीकरण पर है यद्यपि मजबूरी के तौर पर उसे जिन्हीं उद्योगों में केन्द्रीकरण को स्वीकार करना पड़ता है। इतना सब होते हुए भी प्रायः ऐसा जान पड़ता है कि उक्त दोनों पक्ष अपने आपस के विरोध को एक आधारभूत और तात्विक विरोध मानते हैं और ऐसा समझते हैं कि देश को अपनी अर्थ-रचना के लिए दोनों में से किसी एक आधार को चुनना होगा और चुनना चाहिए। मेरी मान्यता ऐसी नहीं है। मैं दोनों पक्षों में कोई ऐसा विरोध नहीं देखता, जिसका सामंजस्य न किया जाए। मेरी राय में तो एक पक्ष दूसरे का पूरकमात्र है और जिस पक्ष को एक पक्ष भूल सकता है उसी पर दूसरे पक्ष का जोर दिखाई पड़ता है। इन दोनों विचारों में सामंजस्य किस प्रकार किया जा सकता है, इस पर विचार करने के पहले दोनों के गुण-दोष की संक्षेप में जांच कर लेना उचित होगा।

केन्द्रित उद्योग का एक बड़ा लाभ यह है कि बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होने कम लागत पर उत्पत्ति हो सकती है। यह भी मान लिया जाता है कि त्पादन के अधिक से अधिक वैज्ञानिक तरीकों को काम में लाने का परिणाम ा केन्द्रित उद्योग ही होगा। केन्द्रित उद्योग का दूसरा लाभ यह कि उत्पादन ार्य में विज्ञान का अधिक से अधिक उपयोग किया जा सकता है। इसका रिणाम उत्पादन की मात्रा में यथेष्ट वृद्धि भी होगी ताकि आम जनता के रहन-हन के दर्जे को ऊंचा उठाया जा सके। साथ ही चूंकि वैज्ञानिक तरीकों के योग से कम समय में अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो सकता है, आम जनता ा केन्द्रित उद्योग से यथेष्ट अवकाश भी मिल सकेगा, जिसका उपयोग वह वन की उच्चतर प्रवृत्तियों के लिए कर सकेगा। केन्द्रित उद्योग के यही मुख्य ाभ हैं। यदि हम ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि ऊपर जिन तीन आदर्शों 'सुरक्षा', 'स्वतन्त्रता', 'अवकाश') का हमने उल्लेख किया है उनमें से ुरक्षा' और 'अवकाश' की दृष्टि से केन्द्रित उद्योग ही आवश्यक मालूम पड़ता ा जो केन्द्रित उद्योग के लाभ हैं वे ही विकेन्द्रित उद्योगों के दोष हैं।

जहां तक विकेन्द्रित उद्योग का प्रश्न है उसका सब में आधारभूत और महत्वपूर्ण गुण यह है कि केन्द्रित उद्योग में जो शक्ति का केन्द्रीकरण अनिवार्य है और उसकी वजह से जन-साधारण की स्वतन्त्रता के अपहरण का जो डर है वह विकेन्द्रित उद्योग में नहीं रहेगा। आर्थिक शक्ति का इस प्रकार का विकेन्द्रीयकरण समाज की स्वतन्त्रता के लिए श्रेयस्कर है। एक दूसरा लाभ विकेन्द्रित उद्योग का हमारे देश की दृष्टि से यह होगा कि उसके द्वारा अधिक व्यक्तियों को काम मिल सकेगा। भारतवर्ष में आज प्रश्न श्रम को बचाने का उतना नहीं है जितना उसके उपयोग करने का। एक तीसरा लाभ यह है कि आज मशीनों आदि उत्पत्ति के साधनों के मिलने में जो कठिनाई है उससे हम बच जाते हैं। इसके अलावा फौजी सुरक्षा की दृष्टि से भी केन्द्रित उद्योग, का बड़ा खतरा है। विकेन्द्रित उद्योगों को बम-वर्षा से नष्ट नहीं किया जा सकता और इस प्रकार समाज को पंगु बन जाने से बचाया जा सकता है। केन्द्रित उद्योगों का यह बड़ा खतरा है। युद्ध-काल में विकेन्द्रित उद्योगो का कितना मूल्य है यह चीन

का अनुभव हमको बतलाता है। सारांश यह है कि विकेन्द्रित उद्योग के भी कई ठोस लाभ है और सबसे बड़ा लाभ यह है कि शक्ति के केन्द्रित होने से आम जनता की स्वतन्त्रता को जो खतरा है उससे समाज को बचाया जा सकता है। 'स्वतन्त्रता' का समाज के लिए बहुत बड़ा महत्व है। इस सम्बन्ध में न्यूयार्क के एक विद्वान श्री सिडनी हुक लिखते हैं—"जनता को अधिकार पत्र (बिल आँव राइट्स) में दी गई स्वतन्त्रता से वंचित कर लीजिए, फिर 'सुरक्षा' (सिक्योरिटी) दासता का रूप ले लेगी, धन्धा जबरदस्ती से लिये गए काम का, खानगीपन छिपाने का, परिवार बच्चे पैदा करने वाले एक स्थान का, स्कूल राज्य की एक चौकी का, समाजिक योग्यता लागत खर्च कम करने के आवश्यक व्यवसायिक विधि का, कला और साहित्य में एकरूपता स्थापित करने के उपायों का और व्यक्ति शासित प्रजाजन का।"

उक्त गुण-दोषों का उल्लेख करने के पश्चात् कुछ बातों की ओर इसी सम्बन्ध में ध्यान आकर्षित करना और आवश्यक है। प्रायः यह मान लिया जाता है कि उत्पादन-कार्य में नवीनतम वैज्ञानिक उपायों को काम में लाने का लाजमी नतीजा होगा बड़े पैमाने की उत्पत्ति। अब तक का हमारा अनुभव कुल मिला कर यह रहा है वह सही है। पर इसका एक बड़ा कारण यह रहा है कि अभी तक विज्ञान पूंजीपतियों और पूंजीवाद के संरक्षण में विकसित हुआ है। वैज्ञानिक खोजों का लक्ष्य अधिकतर उन दिशाओं में रहा है जिनमें पूंजीवादी व्यवस्था को लाभ पहुँचे। पर जब हमारे समाज का ढांचा और उसका आदर्श ही बदल जाय तब भी ऐसा ही हो यह बिल्कुल जरूरी नहीं। समाज अपनी वैज्ञानिक खोज, बुद्धि और शक्ति का उपयोग उन्हीं दिशाओं में करेगा जो समाज के लिए उपयोगी होंगे। अगर हम विकेन्द्रित उद्योग को समाज के लिए हितकर मानते हैं तो हम वैज्ञानिक खोज भी इन उद्योगों की दृष्टि से ही करेंगे। और जिस हद तक समाज को इस दिशा में सफलता मिलेगी उस हद तक केन्द्रित उद्योग का महत्त्व जाता रहेगा। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इस दिशा में प्रयत्न करने की बड़ी आवश्यकता है।

गृह उद्योगों के समर्थक यह भी मान लेते हैं कि उसमें शोषण के लिए

कोई गुंजाइश नहीं। यह केवल एक भ्रम है। शोषण की उन तमाम व्यवस्थाओं में गुंजाइश है जिनमें उत्पादन बिक्री के लिए होता है और उत्पादन-कार्य में निश्चित मजदूरी पर उद्योगपति मजदूरों से काम लेता है। किसी के लिए उत्पादन होने से उत्पादक उपभोक्ता का अथवा उपभोक्ता उत्पादक का शोषण कर सकते हैं। इसी प्रकार निश्चित मजदूरी पर मजदूरों से काम लेने पर मालिक मजदूर का और मजदूर मालिक का शोषण कर सकते हैं। कौन किसका शोषण कर सकेगा? यह इस बात पर निर्भर होगा कि दोनों पक्षों में किस की आर्थिक स्थिति और सौदा करने की शक्ति अधिक है इसी पर से यह फलितार्थ आता है कि **शोषण से समाज को मुक्त करने के लिए गृह उद्योग व्यवस्था में भी राज्य के नियंत्रण की आवश्यकता होगी और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अपने लाभ के लिए काम न करा सके इसकी कानून द्वारा व्यवस्था करनी होगी।**

केन्द्रित उद्योग के विरुद्ध यह आपत्ति भी की जाती है कि उनके कारण कई अनावश्यक कार्य पैदा होते हैं जैसे पहले कई स्थानों से कारखाने तक कच्चा माल ले जाना और फिर कारखानों से विभिन्न उपभोग-केन्द्रों में तैयार माल पहुँचाना। इस प्रकार आवागमन के साधनों पर अनावश्यक बोझ पड़ता है और समाज की कार्य-शक्ति और साधनों का दुरुपयोग होता है। इस दलील में एक भूल है। जब हम किसी केन्द्रित उद्योग को आर्थिक दृष्टि से गृह-उद्योग के मुकाबले में सस्ता मानते हैं तो हम इस बात का ध्यान रख लेते हैं कि कई ऐसे खर्चों को मिलाकर भी जो गृह-उद्योग में नहीं होंगे केन्द्रित उद्योग कम खर्चीला पड़ेगा या नहीं। इसके साथ ही एक बात और है। जब केन्द्रित उद्योगों पर समाज का नियंत्रण होगा, तो केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग की तुलना करते समय केवल हम उस लागत का ही विचार नहीं रखेंगे जो आजकल पूँजीपति अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से रखता है बल्कि उन सब लागतों का ध्यान रखेंगे जिन्हें समाज की दृष्टि से रखना आवश्यक है। उदाहरण के तौर पर अगर किसी कारखाने की वजह से जो आसपास धुँआ फैलता है, उस से लोगों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है तो उस कारखाने

की उपयोगिता का अनुमान लगाते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा। यह ठीक है कि रुपये आने-पाई में इसका अन्दाज लगाना कठिन बहुत होगा फिर भी किसी न किसी प्रकार इसका विचार तो करना होगा।

केन्द्रित-विकेन्द्रित उद्योगों का उपरोक्त विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि आज तो हम किसी ऐसी अर्थ-रचना की कल्पना नहीं कर सकते हैं जिसमें एक प्रकार के ही उद्योग हों। उस व्यवस्था में दोनों ही प्रकार के उद्योग होंगे। दोनों विचारों के लोग—समाजवादी और गाँधी-वादी इस बात को स्वीकार करते हैं। मतभेद का विषय तो यह है कि केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योगों का सापेक्षिक स्थान क्या हो ?

गांधीवादी या विकेन्द्रित उद्योग के समर्थकों का मत इस प्रकार है। वे चाहते हैं कि वे तमाम उद्योग-धंधे जो उपभोग की वस्तुएं जैसे अन्न, वस्त्र, फर्नीचर आदि उत्पन्न करें छोटे पैमाने पर संगठित होने चाहियें। केवल वे आधारभूत उद्योग जिनका छोटे पैमाने पर संचालन नहीं हो सकता बड़े पैमाने पर संगठित किये जाने चाहियें। ऐसे आधारभूत उद्योगों में निम्न लिखित की गिनती की जा सकती है—रक्षा-संबंधी उद्योग, बिजली-उत्पादन संबंध उद्योग, खनिज-पदार्थ निकालने और उनको साफ करने के उद्योग और जंगल-संबंधी उद्योग। इनके अलावा मशीन तथा औजार बनाने के उद्योग, भारी इंजिनियरिंग जैसे जहाज, रेलवे इंजिन, मोटर आदि के उद्योग और भारी द्रव्य संबंधी उद्योग भी आधारभूत उद्योगों में शामिल किये जा सकते हैं।

जो लोग समाजवादी विचार के हैं उनका मत इस विषय में भिन्न है। श्री लेविस ममफर्ड अपनी "टेक्नीक्स ऑव सिविलजेशन" नामक पुस्तक में लिखते हैं—"उत्पादन की आधारभूत आवश्यकताओं के परे, सामान्य और इसलिए उचित रहन-सहन के दर्जे से परे ऐसी आवश्यकतायें हैं जो कि व्यक्ति या समूह समाज से नहीं चाह सकता और जिनको कम करने या कृत्रिम रूप से दबाने की भी समाज को कोई आवश्यकता नहीं है अगर शोषण का जरिया उनमें से हटा दिया जाता है। यह आवश्यकताएँ अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से पूरी की जा सकती हैं। हाथ से कपड़े बुनना या काढ़ना, आवश्यक फर्नीचर

तैयार करना, नये ढंग के प्रयोग के तौर पर हवाई जहाज बनाना—ये इस प्रकार के काम-धंधे हैं जो व्यक्ति, परिवार, या काम करने वाला अन्य कोई छोटा समूह अपने तौर पर कर सकते हैं उत्पादन की सामान्य परिधि से अलग। इसी प्रकार जहाँ तक खेती का सवाल है गेहूँ तथा दूसरे अनाज आदि पदार्थ बड़े पैमाने पर चलने वाली सहयोगी कृषि द्वारा पैदा किये जायेंगे और हरे साग और फल व्यक्ति अपने निजी तौर पर पैदा कर सकेंगे..........।" इससे यह स्पष्ट है कि समाजवादी छोटे पैमाने पर जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करने के पक्ष में नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि इन्हीं वस्तुओं की समाज में समानरूप से आवश्यकता होती है, इसलिए बड़ी मात्रा में एक ही प्रकार की ये वस्तुएं चाहिए और इसलिए बड़े पैमाने पर उत्पन्न करने के यही योग्य हैं इसके विपरीत जो आराम और और विलास की वस्तुएं हैं उनको छोटे पैमाने पर उत्पन्न करने दिया जा सकता है क्योंकि उनमें व्यक्तिगत पसन्द नापसन्द की बात आने से उनका मांग एक ही प्रकार बड़ी मात्रा में नहीं हो सकती और उनका उसी हद तक व्यवस्था करने का जिम्मा समाज का नहीं है जिस हद तक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था का है। इसमें भी यह शर्त तो है ही कि इन चीज़ों को उत्पन्न करने के सिलसिले में एक समूह या व्यक्ति दूसरे समूह या व्यक्ति से उजरत पर काम नहीं ले सकेगा।

ऊपर के विवेचन से गांधीवादी और समाजवादी दृष्टिकोण का भेद अलग हो जाता है। इसे समझना अत्यन्त आवश्यक है। संक्षेप में यह भेद इस प्रकार है कि गांधीवादी बड़े पैमाने पर चलने वाला केन्द्रित उद्योग का अर्थ-व्यवस्था में उतना ही स्थान स्वीकार करना चाहते हैं जितना अनिवार्य है और सीधे उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन गृह-उद्योग द्वारा ही करना पसंद करते हैं। इसके विपरीत समाजवादी गृह-उद्योग का उतना ही स्थान स्वीकार करते हैं जितना अनिवार्य है और जो जीवन के लिए आवश्यक वस्तुयें हैं उनका उत्पादन तो बड़े पैमाने पर करना आवश्यक मानते हैं। जहां तक आधारभूत उद्योगों का प्रश्न है दोनों विचारों में कोई मतभेद नहीं हो सकता। जहां तक

कि ऐसे धन्धों का सवाल है जो स्वभाव से ही छोटे पैमाने पर चल सकते हैं क्योंकि उनमें व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द का अथवा कलात्मक दृष्टि का विशेष महत्व है वहां भी दोनों दृष्टियों में कोई मत-भेद नहीं है। मतभेद का सवाल तो उन वस्तुओं की उत्पत्ति के बारे में उत्पन्न होता है जो बड़े पैमाने पर भी पैदा किये जा सकते हैं और छोटे-छोटे गृह उद्योगों द्वारा भी और जो हमारे सीधे उपभोग की वस्तुएं भी हैं। उदाहरण के तौर पर अन्न, वस्त्र, चमड़े का सामान, कागज, गुड़ शक्कर, बढ़ई, लुहार का काम, शीशे का सामान आदि इस श्रेणी में आते हैं। गांधीवादी विचार के लोग इन सब उद्योगों को छोटे पैमाने पर चलाना चाहेंगे जब कि समाजवादी विचारकों का कोई ऐसा आग्रह नहीं होगा। अब हमारे विचारने का असली विषय यह है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था का इस सम्बन्ध में क्या आधार हो?

यहां पर एक बात और स्पष्ट करने की है। केन्द्रित विकेन्द्रित उद्योग के सापेक्षिक स्थान के बारे में हमको दो दृष्टियों से विचार करना होगा—एक तात्कालिक दृष्टि और दूसरी दीर्घकालिक दृष्टि, उदाहरण के तौर पर आज मशीनों आदि के प्राप्त करने की कठिनाई के कारण, कई वस्तुओं की तुरन्त उत्पत्ति की आवश्यकता होने के कारण लोगों को यथेष्ठ मात्रा में काम देने के कारण, तथा किसानों की खेती की वर्तमान स्थिति में एक साथ कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो सकने से उनके लिए सहयोग उद्योग की व्यवस्था करना आवश्यक होने के कारण हमको कई गृह-उद्योगों की जरूरत हो सकती है जो कि इन परिस्थितियों में सुधार होने पर आवश्यक न माने जांय यदि हम उनका स्थायी रूप से महत्व न मानते हों। अस्तुः हमारी भावी अर्थ-व्यवस्था में गृह-उद्योगों का स्थान निश्चित करते समय एक तो हमको ऊपर बताई गई तात्कालिक दृष्टि का ध्यान रखना होगा। इसके अलावा इस प्रश्न पर हमको दीर्घ दृष्टि से भी विचार करना होगा।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि विकेन्द्रित उद्योग के पक्ष में एक उसूल की दलील यह है कि उससे शक्ति का केन्द्रीकरण होने से बचता है जब कि केन्द्रित उद्योग में उसका होना अनिवार्य है। इसके विपरीत यदि हमारे

विकेन्द्रित उद्योगों की उत्पादन-शक्ति बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों से कम है तो उसका परिणाम यह आ सकता है कि हमारे रहन-सहन का दर्जा काफी नीचा रहे और आम लोगों को उच्च प्रवृत्तियों के लिए आवश्यक अवकाश न मिले और उनका अधिक समय जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मेहनत करने में ही खर्च हो जाय। इस सम्बन्ध में प्रायः यह दलील भी दी जाती है कि गृह-उद्योगों का काम ही अपने आप से ऐसा है जिसमें व्यक्ति की उच्च प्रवृत्तियों की ओर उसके व्यक्ति को विकसित होने का पूरा मौका मिलता है। पर हमको यह ध्यान रखना होगा कि गृह-उद्योग इस श्रेणी में नहीं आ सकते। आखिरकार हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि उचित अवकाश का प्रश्न भी रह ही जाता है। इस तरह से हम देखते हैं कि एक ओर तो हमारे सामने रहन-सहन के दर्जे और आवश्यक अवकाश (सीक्योरिटी, और लेजर) का प्रश्न रहता है जिसको हल करने के लिए केन्द्रित उद्योग की आवश्यकता अनुभव होती हैं, और दूसरी ओर हमारे सामने उतना ही महत्वपूर्ण प्रश्न शक्ति के केन्द्रीकरण से बचने (फ्रीडम) का है जिसके लिये विकेन्द्रित उद्योग की आवश्यकता हमको मालूम होती है।

इन दोनों प्रश्नों के सामंजस्य की समस्या ही वास्तव में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण के सामंजस्य की समस्या है इस सामंजस्य को स्थापित करने में दो बातों से हमें सहायता मिलेगी एक तो हमारी तात्कालिक आवश्यकताएं, जिनमें प्रत्येक काम करने योग्य स्त्री पुरुष को पूरा-पूरा काम दिया जा सके यह आवश्यकता सब से प्रमुख है। जो कई प्रकार के गृह-उद्योगों को कायम करना और उनको प्रोत्साहित करना अनिवार्य बना देगी। और इस प्रकार शक्ति के विकेन्द्रीकरण का सवाल भी अपने आप से उस हद तक हल हो जायेगा। दूसरे, जैसे जैसे विज्ञान की खोजों का उपयोग गृह-उद्योगों की दृष्टि से अधिकाधिक किया जायेगा वैसे वैसे यह प्रश्न भी हल हो सकेगा। 'टेकनीक' बिजली के उपयोग के कारण, अपने विकास की जिस नई अवस्था (Neo-Technic Stage) में प्रवेश कर रही है उसके परिणाम-स्वरूप विकेन्द्रित और संतुलित अर्थ-व्यवस्था को फिर से स्थापित किया जा सकेगा।

उपर्युक्त दो कारणों से विकेन्द्रीकरण आवश्यक होगा उसके आगे हम विकेन्द्रीकरण को कितना स्थान दें यह प्रश्न और विचारणीय रह जाता है। इसका निर्णय करते समय हमको अवकाश और रहन-सहन के दर्जे का एक ओर और शक्ति के विकेन्द्रीकरण का दूसरी ओर ध्यान रखना होगा और दोनों ही में एक प्रकार का समझौता करना होगा क्योंकि समाज के हित की दृष्टि से दोनों ही दृष्टियों का समान महत्व है। वह समझौता किस प्रकार होगा इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख तो यहां किया नहीं जा सकता। यह प्रश्न तो वास्तव में जब हम देश के लिये कोई योजना बनायेंगे तभी सच्चे अर्थ में हल हो सकेगा। परन्तु एक आध उदाहरण से उस समझौते के स्वरूप के बारे में स्पष्टीकरण अवश्य किया जा सकता है। कपड़े के ही प्रश्न को लीजिये। गांधीवादी योजना में आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि हमारे गांव न केवल खादी के मामलों में स्वावलम्बी हो सकते हैं बल्कि वह शहरों के लिये भी कपड़ा उत्पन्न कर सकते हैं। उनके इस हिसाब का आधार प्रति व्यक्ति साल भर चलने वाला बीस गज कपड़ा है साथ ही यह भी मान लिया गया है कि प्रत्येक गांव वाला दो घंटे रोज कातने में दे सकेगा। अब यदि हमारी आर्थिक योजना में हम यह संभव मानते हैं कि हर एक व्यक्ति जो गांव में रहता है इतना समय केवल कातने   सकता है और उसका असर सारे राष्ट्र के उत्पादन पर यह नहीं होगा कि अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति हम इतनी कम कर सकेंगे कि जिससे हमारे रहन-सहन का दर्जा अनुचित रूप से कम हो जायेगा और साथ ही यदि हम प्रति व्यक्ति बीस गज कपड़ा काफी भी मानते हों तो इन दोनों शर्तों के पूरे होने पर हम यह पसन्द करेंगे कि कपड़े जैसी प्रारम्भिक आवश्यकता का उद्योग विकेन्द्रित रहे। पर यदि हम उक्त दोनों स्थितियों को संतोषजनक न मानते हों तो हमें इस बात का आग्रह छोड़ना होगा कि सारा कपड़ा खादी का ही हो और अपनी योजना में हमें आंशिक रूप से मिल से कपड़ा तैयार करने की बात को भी स्वीकार करना होगा। यह तय करना कठिन नहीं होगा कि किस मात्रा में और किस प्रकार का कपड़ा हाथ से तैयार किया जाए और किस मात्रा में और किस प्रकार का कपड़ा

मिल से। हाथ से कपड़ा उत्पन्न करने का महत्व हम इस उसूल पर मानेंगे कि जीवन के लिए प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूरी करने वाली वस्तुएं विकेन्द्रित उद्योगों द्वारा पैदा की जा सके तो अच्छा है। पर इस उसूल को हम एकतरफा ढंग से इतना नहीं खींच सकते कि रहन-सहन के दर्जे का कोई ध्यान ही नहीं रखें। इसके अलावा अगर सहयोग के आधार पर बड़े पैमाने के उद्योग चलाये जा सकते हैं तो हमें उसका भी प्रयोग करना होगा क्योंकि सहयोग के आधार पर चलने वाला केन्द्रित उद्योग उस दोष से तो मुक्त होगा जिस दोष से कि अन्य केन्द्रित उद्योग, जिसमें कि काम करने वाले मजदूर की हैसियत रखते हैं चाहे फिर वे राज्य के ही नौकर क्यों न हों, नहीं होगा। इतना विस्तार के साथ लिखने का तात्पर्य केवल इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें केन्द्रित-विकेन्द्रित उद्योग के प्रश्न को किसी एक मत का अनुचित आग्रह रखकर ही तय नहीं करना होगा बल्कि कई दृष्टिकोणों को हमें ध्यान में रखना होगा। इस आधारभूत बात को यदि हम स्वीकार करलें तो मेरा निश्चित मत है कि विभिन्न विचारों के लोगों में केन्द्रित तथा विकेन्द्रित उद्योग के प्रश्न को लेकर कोई बड़ा मतभेद हो यह मानने की आवश्यकता नहीं है।

पर यहां एक कठिनाई अवश्य उत्पन्न होती है. यदि हम एक देश व्यापी आर्थिक योजना का सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने रखते हैं तब तो हम देश भर के लिए सोच विचार कर यह निर्णय कर सकते हैं कि केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग का अमुक-अमुक क्षेत्र में अमुक-अमुक स्थान रहेगा हालांकि समय-समय पर परिस्थितियों के बदलने पर हमें अपने फैसलों में भी बराबर परिवर्तन करते रहना पड़ेगा। परन्तु जब तक ऐसी कोई देश-व्यापी योजना हमारे सामने नहीं है और इस प्रकार की देश व्यापी योजना में प्रादेशिक स्वावलम्बन या बड़ा महत्व होगा—हमारे में यह कठिनाई अवश्य आती है कि यदि हमारे प्रान्त अथवा राज्य आर्थिक उन्नति के लिए कोई उद्योग आरम्भ करना चाहते हैं तो वे किस आधार पर करें। आज ऐसी कठिनाई वास्तव में सामने आती है। मद्रास प्रान्त में कपड़े की योजना के बारे में जो आपत्ति और कठिनाई उत्पन्न की जाती है उनका एक कारण यह है कि देश भर के लिये कोई स्पष्ट चित्र न

होने से प्रत्येक प्रान्तीय शासन अपनी अपनी विचार धारा और प्रवृत्ति के अनुसार चलने का प्रयत्न करता है। इसका परिणाम विभिन्न प्रान्तों में विरोधी नीतियों को अमल में लाना हो जाता है। इससे देश व्यापी योजना का कितना महत्व है यह स्पष्ट हो जाता है। परन्तु जब तक ऐसी योजना सामने नहीं आती तब तक क्या किया जाय? ऐसी योजना की प्रतीक्षा में हम अपनी गति को रोक तो नहीं सकते। मेरी राय में सिवाय इसके कि प्रत्येक प्रान्त अपने अपने क्षेत्र की स्थिति को ध्यान में रख कर निर्णय करे और कुछ नहीं हो सकता जिस प्रकार के उद्योग-धन्धों को प्रान्त प्रोत्साहन दे सकता है, उनको वह प्रोत्साहन दे और अपनी वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए अपने फैसले करे। इस वर्तमान स्थिति में तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगाः—

(१) प्रान्त में काम करने योग्य स्त्री-पुरुषों में बेकारी न रहे।

(२) प्रान्त भर के रहन-सहन का दर्जा कम से कम एक न्यूनतम दर्जे को जल्दी से जल्दी प्राप्त हो।

(३) उपर्युक्त दोनों बातों का ध्यान रखते हुए ही केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योगों के सापेक्षिक महत्व को तय किया जाय। सारांश यह है कि जब तक देश-व्यापी योजना नहीं बनती तब तक के लिए प्रत्येक प्रान्त को अलग से और आवश्यक मालूम पड़ने पर पारस्परिक सहयोग के आधार पर भी योजना बना कर आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। देश व्यापी आर्थिक योजना के आधार भूत सिद्धान्त क्या होने चाहिये और उस योजना में केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग का स्थान किस प्रकार निश्चित होना चाहिए इस सम्बन्ध में मैं ऊपर लिख चुका हूँ। संक्षेप में उन्हीं बातों को यहां दोहरा देना अनुचित न होगा। वे बातें इस प्रकार हैं:—

(१) जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण प्राचीन और वर्तमान दोनों दृष्टिकोणों का सामंजस्य होगा। हमारा ध्येय न तो आवश्यकताओं का दमन करना होगा और न उनकी बिना विचार किये अभिवृद्धि करना। हमारा प्रयत्न आवश्यकताओं को इस प्रकार परिष्कृत करना होगा जिससे कि मनुष्य के व्यक्तित्व

का सच्चे अर्थ में पूरा-पूरा विकास हो सके।

(२) व्यक्तित्व के विकास के लिये यह आवश्यक है कि हमारी समाज व्यवस्था में 'सुरक्षा' 'स्वतन्त्रता' और अवकाश तीनों का सुन्दर सामंजस्य हो।

(३) उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये जो व्यवस्था कायम की जायेगी उसका आधार पूंजीवाद नहीं होगा। वह शोषण-रहित समाज व्यवस्था होगी जिसमें केन्द्रित और विकेन्द्रित दोनों प्रकारों के उद्योगों का स्थान होगा।

(४) जहां तक ऐसे उद्योग हैं जो स्वभावतः बड़े या छोटे पैमाने पर ही संगठित किये जा सकते हैं उनके बारे में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है।

(५) जो उद्योग दोनों ही प्रकार से चल सकते हैं उनके बारे में समाजवादी विचारक बड़े पैमाने के उद्योग को, और गांधीवादी विचारक छोटे पैमाने के उद्योग को पसन्द करते हैं। दोनों के विचारों में यहीं मतभेद आता है।

(६) इस मतभेद का निपटारा किसी मताग्रह के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। इसका निपटारा हमें सुरक्षा, स्वतन्त्रता और अवकाश त्रिविध दृष्टियों को सामने रख कर ही करना चाहिए।

(७) जैसे जैसे वैज्ञानिक खोज छोटे पैमाने की उत्पत्ति की दृष्टि से अधिकाधिक होगी और टेकनीक अपनी आधुनिक अवस्था में प्रवेश करेगा वैसे-वैसे केन्द्रित और विकेन्द्रित उद्योग का संघर्ष खत्म होता जायगा।

(८) कई तात्कालिक परिस्थितियों के कारण भी, जैसे बेकारी का समाज से अन्त करने के लिए, बड़े पैमाने पर कारखाने चलाने के लिए आवश्यक मशीनरी आदि सुलभ न होने की वजह से छोटे पैमाने की उत्पत्ति को हमें स्थान देना होगा।

(९) अन्त में हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि गृह-उद्योगों

को भी शोषण का साधन न बनाया जा सके? इसकी व्यवस्था करने के लिए राज्य का यथेष्ट नियंत्रण आवश्यक होगा। साथ ही प्रत्येक गृह-उद्योग मनुष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने वाला हो यह आवश्यक नहीं है।

मेरा ऐसा मत है कि हमारे देश की भावी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण उक्त बातों को ध्यान में रख कर ही किया जाना चाहिये तभी हम देश में एक न्यायोचित व्यवस्था कायम कर सकेंगे और समाज में 'सुरक्षा' 'स्वतन्त्रता' और 'अवकाश' के त्रिमुखी लक्ष्य की स्थापना भी हो सकेगी। इसी में व्यक्ति और समाज दोनों का वास्तविक कल्याण है।

वनस्थली : जनवरी मार्च १९५०

: ५ :

स्वतन्त्र भारत में खादी का महत्व

१५ अगस्त १९४७ को भारतवर्ष विदेशी गुलामी से मुक्त हो चुका। राजनैतिक दृष्टि से अब हमको एक स्वतन्त्र राष्ट्र का दर्जा प्राप्त हो गया। बहुत लोगों के सामने इस समय यह प्रश्न है कि क्या आजाद होजाने के पश्चात् भी खादी का यही महत्व रहेगा? प्रश्न स्वाभाविक है और इस सम्बन्ध में हमारे विचार स्पष्ट हों इसकी आवश्यकता भी है।

आज़ाद-भारत में खादी के महत्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि अब तक खादी के महत्व के कारण को हम अच्छी तरह से समझें। यह तो जाहिर है कि हमारे स्वाधीनता संग्राम में खादी का एक विशेष स्थान रहा है। सवाल है कि यह स्थान क्यों रहा है? हमारी आजादी की लड़ाई एक अपूर्व ढंग से पू० महात्मा गांधी के नेतृत्व में लड़ी गई। उसकी अपूर्वता इस बात में रही कि उसको हमने अहिंसक आधार पर चलाने का प्रयत्न किया। यहां एक बात का फर्क समझ लेना आवश्यक है। वह फर्क है गांधीजी की अहिंसा और शान्त प्रतिरोध (पेसिव रेसिस्टेंस) में। प्रायः यह कहा जाता है कि जिस प्रकार का अहिंसक प्रतिरोध महात्मा गांधी एक व्यापक आधार पर चलाना चाहते थे और चलाना सम्भव मानते थे यह सर्वथा नई चीज नहीं थी और इतिहास में उस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं। मेरे विचार से इस धारणा में एक बड़ी भूल है। गांधीजी की अहिंसा के पीछे एक सम्पूर्ण जीवन दर्शन है। सत्याग्रह उसका परिणाम मात्र है। उस जीवन दर्शन को यदि हम बहुत सरल ढंग से प्रकट करना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि उस दर्शन का आधार यह मान्यता है कि प्रत्येक मनुष्य में मनुष्यता का, ईश्वरीय शक्ति का तत्व मौजूद है और सत्याग्रही स्वयं अपनी त्याग और कष्ट सहिष्णुता से उस तत्व को अपने विरोधी में जागृत कर सकता है और उसको सही मार्ग पर स्वेच्छा पूर्वक ला सकता है। उसके इस अहिंसक प्रतिरोध या सत्याग्रह में किसी के

विनाश की भावना नहीं बल्कि निर्माण की भावना ही रहती है। पेसिव रेसिस्टेंस का आधार इस प्रकार का कोई दर्शन नहीं होता। वह तो एक मौके, व्यवहारिकता और नीति की बात होती है। सारांश यह है कि जहां शांत प्रतिरोध का केवल एक नकारात्मक पहलू ही होता है वहां गांधी के अहिंसक प्रतिरोध का मूल आधार ही रचनात्मक और निर्माणकारी प्रवृत्ति होती है। अहिंसक प्रतिरोध अथवा सत्याग्रह मूलतः और केवल विध्वंसात्मक तो हो नहीं सकता। रचनात्मक होना तो अहिंसक प्रतिरोध का स्वभाव ही है। और यदि उसका विनाशकारी और नकारात्मक पहलू कभी प्रकट भी होता है तो उसके पीछे और उसके आधार-स्वरूप रचनात्मक पहलू का होना तो अनिवार्य है ही। यह कारण है कि महात्मा गांधी ने अपने अहिंसक युद्ध में रचनात्मक कार्य को सदा ही बहुत महत्व दिया और रचनात्मक कार्य को सामान्य और शाश्वत नियम तथा सत्याग्रह अथवा अहिंसक प्रतिरोध को अपवाद अथवा आपत् धर्म ही माना। गांधीजी की अहिंसक लड़ाई में रचनात्मक कार्य की अनिवार्यता समझने के बाद रचनात्मक कार्य का हमारी आजादी की लड़ाई से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकता है यह भी साफ हो जाता है और खादी का महत्व भी इसी में रहा है कि खादी को समस्त रचनात्मक कार्य का केन्द्र-बिन्दु माना गया। खादी को ऐसा मानने के कई कारण हो सकते हैं। भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश में कताई की एक सहयोगी धंधे के रूप में देशव्यापी उपयुक्तता, जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं में कपड़े की गिनती, और कताई-उद्योग का हमारे देश में ऐतिहासिक महत्व खादी को रचनात्मक कार्य का केन्द्र-बिन्दु मानने के मुख्य कारण रहे हैं।

खादी का हमारी आजादी की लड़ाई से जो सम्बन्ध रहा है उसे समझने के पश्चात् इस बात का उत्तर देना कठिन नहीं होना चाहिए कि स्वतन्त्र भारत में खादी का महत्व रहना चाहिए या नहीं। स्वतन्त्र भारत में हमें नये समाज निर्माण का काम करना है। जब तक हम एक सही और न्यायोचित आधार पर एक ऐसे समाज की रचना नहीं कर लेते जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व को पूरे तौर से विकसित करने का समान अवसर प्राप्त हो, हमको वास्तविक आजादी हासिल नहीं होगी। दूसरे शब्दों में आजाद भारत में निर्माण या

रचना की प्रवृत्ति का बहुत बड़ा और पहले से भी अधिक महत्व का स्थान रहने वाला है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। पर इसी से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि स्वतन्त्र भारत में भी हम अपनी रचनात्मक प्रवृत्ति का प्रतीक खादी को ही चुनें जैसा कि पराधीन भारत में हमने चुना। पराधीन भारत में जो एक प्रकार की हमारी विवशता थी वह स्वाधीन भारत में रहना आवश्यक नहीं। पराधीन भारत में मशीन द्वारा बड़े पैमाने पर चलने-वाले उद्योगों के पूंजीवादी स्वरूप को हम बचा नहीं सकते थे। क्योंकि राष्ट्रीयकरण का मार्ग हमारे लिए खुला नहीं था। राष्ट्रीयकरण के पहले जनतन्त्रीय राज्य-व्यवस्था का होना अनिवार्य है। भारत में जनतन्त्रीय राज्य की स्थापना हुई है, अब हमारे रचनात्मक प्रयोगों का आधार बड़े बड़े उद्योग हैं जिनका राष्ट्रीयकरण किया जाये ताकि वे शोषण के साधन न बन सकें। इस तर्क के आधार पर छोटे पैमाने पर चलने वाले उद्योग (जैसे खादी के ही उद्योग) का कोई महत्व नहीं रह जाता। पर यहां याद रखने की बात यह है कि हमारे देश की भावी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में एक से अधिक कारणों से विकेन्द्रित उद्योग का एक बड़ा स्थान रहने वाला है। उन कारणों में विस्तार पूर्वक जाना यहां संभव नहीं है। संक्षेप में शक्ति के केन्द्रीकरण को रोकने के लिए, व्यक्ति की रचनात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने के लिए तथा बेकारी का समाज से अन्त करने के लिए हमें छोटे पैमाने के उद्योग को अपनी अर्थ-व्यवस्था में स्थान देना होगा। सारांश यह है कि स्वतन्त्र भारत में रचनात्मक और निर्माणकारी कार्यक्रम का महत्व तो होगा ही पर विकेन्द्रित उद्योग का असर रचनात्मक और निर्माणकारी कार्यक्रम के प्रतीक के रूप में भी महत्व रहेगा। और खादी विकेन्द्रित उद्योग के एक अत्यन्त उपयुक्त प्रतीक के रूप में जिन कारणों से आज तक रही है उन्हीं कारणों से आगे भी रहनी चाहिए।

पर यहां एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। विकेन्द्रित उद्योग की विशेषता इसमें नहीं है कि उसमें आधुनिकतम यंत्रों का उपयोग न किया जाये और हाथ से ही काम किया जाये। उसका आधारभूत लक्षण तो यह है कि ऐसे उद्योग छोटे पैमाने पर चलाये जाते हैं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में

विकेन्द्रीकरण की ओर देश का ध्यान तो गया है, परन्तु गांधीजी की योजना में अभी तक यंत्र और यंत्र-संचालन-शक्ति का धंधों के लिए उपयोग नहीं हुआ है। स्वतन्त्र भारत को इस दिशा में नया कदम उठाना होगा और उठाना चाहिए। जब तक हम इस तथ्य को नहीं समझ लेते हैं हमारे गृह-उद्योगों का भविष्य उज्वल नहीं माना जा सकता। अस्तु, अपने उक्त विवेचन के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्वतन्त्र भारत में भी खादी का विकेन्द्रित उद्योग के प्रतीक के रूप में महत्व रहना चाहिए परन्तु उसके उत्पादन में यंत्र और यंत्र-संचालन शक्ति का उपयोग करने की ओर हमारा ध्यान जाना आवश्यक है। तभी हमारे गृह-उद्योग आर्थिक आधार पर पुनर्जीवित किये जा सकेंगे और वे टिक सकेंगे।

: ६ :

अहिंसा और जन-आन्दोलन

भारतवर्ष का राजनैतिक आदर्श देश की आजादी है। हमारी आजादी की लड़ाई राष्ट्र की भावी उन्नति के लिए एक अनिवार्य साधन है। आज प्रत्येक समझदार आदमी इस बात को महसूस करने लगा है कि बिना स्वतंत्रता हासिल किए देश की किसी दिशा में भी प्रगति नहीं हो सकती। देशव्यापी बेकारी और गरीबी की समस्या का हल हम उसी हालत में पूरी तरह से कर सकते हैं जबकि हम आजाद हों। और चूंकि हमारी आजादी का एक खास मक़सद है उसको हासिल करके हम अपने देश के गरीब किसान, मजदूर और निम्न मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन को अधिक सुखी और समृद्धिशाली बनाना चाहते हैं, इस वास्ते हमारी आजादी की शकल भी हमारे इस उद्देश्य के अनुरूप हो, यह बहुत आवश्यक है। यदि आज देश की हुकूमत अंग्रेजों के हाथ से निकल कर हमारे ही देश के धनिक तथा अन्य प्रतिक्रियावादी वर्ग के लोगों के हाथ में आजाती है तो भी देश की असंख्य और मूक जनता की हालत में कोई विशेष सुधार होने की आशा नहीं की जा सकती। इससे स्पष्ट है कि हमारी स्वतन्त्रता की मांग जातीयता के आधार पर नहीं है यह सवाल हिन्दुस्तानियों और गैर हिन्दुस्तानियों का इतना नहीं है। यह प्रश्न तो है शोषक वर्ग और शोषित वर्गों के बीच का, चाहे फिर वे हिन्दुस्तानी हों या अंग्रेज। हम इस तरह की हुकूमत देश में चाहते हैं कि शासन का वास्तविक आकार चन्द लोगों के हाथों में न रह कर जन साधारण के अधिकार में आजावे। जनता की हुकूमत हम हमारे देश में स्थापित करना चाहते हैं। जनता की हुकूमत का अर्थ है उन लोगों द्वारा राज्य शासन का चलाना जिनकी ताकत जनता के उनके प्रति विश्वास अविश्वास पर निर्भर हो, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा राज्य कार्य चलाया जावे, इसका महत्त्व यही है कि वे लोग जिनको जनता चुनेगी और नियुक्त करेगी ऐसे होंगे जो जनता की आवाज और राय के अनुसार राज्य

कार्य करें। और यह कार्य जनता के हित में होगा यह स्वाभाविक है। यह अधिकार हम न केवल ब्रिटिश भारत के लिये ही किन्तु देशी रियासतों में भी चाहते हैं। राजा लोग अपने आपको अमानतदार (Trustees) समझें, इसका अर्थ ही यह है कि वे राज्य को अपने व्यक्तिगत आराम और भोग की चीज न समझें बल्कि इस बात का बराबर ध्यान रखें कि राज्य कार्य उनको जनता की भलाई की दृष्टि से करना है। इसके लिए राजा लोगों को अपने में काफी संयम और सेवा भाव को जागृत करना होगा। अगर वे अपने आपको ऐसा न बना सके अगर उन्होंने समय की गति को पहचानने से इनकार किया तो आज नहीं तो कल जनता की संगठित जन-शक्ति उनको एक तरफ उठाकर रख देने के लिए मजबूर होगी। यह नामुमकिन हैं कि चन्द लोग हमारी प्रगति को रोक सकें। सारांश यह है कि हम इस तरह की हुकूमत चाहते हैं कि वास्तविक शक्ति जनता के हाथ में हो। इसी को प्रजातन्त्रात्मक राज्य कहते हैं।

जिस प्रजातन्त्रात्मक राज्य का हमने ऊपर जिक्र किया है यह मानव समाज के विकास की एक विशेष और ऐतिहासिक स्थिति है। इसलिए यह अनिवार्य भी है अर्थात् प्रत्येक देश में एक-न-एक दिन मानव समाज विकास की इस सीढ़ी पर से होकर गुजरेगा। दुनिया का अब तक का इतिहास इस बात को स्पष्ट करता है और आगे का इतिहास भी यह सिद्ध करेगा यह निश्चित है। मानव समाज के विकास की इस स्थिति का एक विशेष लक्षण यह है कि लोग बनिस्बत अन्ध विश्वास के अपनी बुद्धि पर ही अधिक भरोसा करते हैं। प्रत्येक कार्य को वे तर्क से समझना चाहते हैं। ऐसी बातें जो बुद्धि गम्य नहीं है, इस समय के लोगों को अपील नहीं करतीं वे अपनी शक्ति पर भरोसा करना सीखते हैं। अतः प्रजातंत्रात्मक राज्य की स्थापना के लिए लोगों में इस प्रकार की मानसिक क्रान्ति उत्पन्न करना आवश्यक है। अन्ध-विश्वासी लोग जन-तन्त्रात्मक राज्य के लिए अनुपयुक्त हैं। अगर हम चाहते हैं कि किसी देश में जन-तन्त्रात्मक राज्य कायम हो तो उसकी सफलता के लिए एक आवश्यक शर्त यह है कि वहां के लोगों में अन्ध विश्वास का अन्त हो, उसमें आत्म विश्वास पैदा हो, वे दूसरों पर भार न रह कर अपने पांवों पर स्वयं खड़ा होने में समर्थ हों। जिन देशों में

जन-तन्त्रात्मक राज्य की स्थापना के लिए आन्दोलन जारी हैं उनके लिए यह आवश्यक है कि वे आन्दोलन इस प्रकार चलाये जावें कि उनमें जन-साधारण भाग ले सकें ताकि उनमें विश्वास का उदय और उत्तरोत्तर विकास हो।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि भारतवर्ष में भी हम जन तन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। इसके लिए हमको जन-आन्दोलन की शरण लेनी होगी। देश में जिस राष्ट्रीय चैतन्य का अस्तित्व हम आज देखते हैं, उसका एक मात्र कारण जनता की संगठित जागृति और उसका संगठित उपयोग ही है। साथ ही हमारी आजादी की लड़ाई हम अहिंसक रूप से चलाना चाहते हैं। अहिंसा हमारे राष्ट्र को महात्मा गांधी की एक विशेष देन है। अब प्रश्न यह है कि अहिंसा की जो व्याख्या जो महात्मा गांधी कहते हैं उसके अनुसार जन आन्दोलन चल सकता है अथवा नहीं। यदि अहिंसा को राजनैतिक क्षेत्र और आर्थिक क्षेत्र में एक सफल साधन बनाना है, तो उसमें इस प्रकार का विकास आवश्यक है कि उसके आधार पर जनता के आन्दोलन चल सकें। वैसे तो एक नहीं कई बार महात्मा गांधी ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि यह अहिंसा अपूर्ण होगी जो प्रत्येक स्थिति और वातावरण में कार्यान्वित नहीं हो सके। लेकिन इधर कुछ समय से गांधीजी बराबर इस बात की शिकायत कर रहे हैं कि देश में हिंसा का वातावरण बराबर फैलता जा रहा है और इसलिए मौजूदा स्थिति में वे अहिंसक जन आन्दोलन की जिम्मेवारी लेने को तैयार नहीं हैं। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि देश में राष्ट्रीय चैतन्य बराबर बढ़ता जा रहा है। आज देश में जागृति इस दर्जे तक उत्पन्न हो गई है और बराबर उत्पन्न होती जा रही है कि लोग अब अपने कंधों पर से गुलामी का जुआ उतार फेंकने के लिए बेचैन है। स्वयं गांधीजी ने भी राष्ट्र में उत्पन्न इस अपूर्व चेतना को स्वीकार किया है। अस्तु, अहिंसा की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसका विकास राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप हो। इसकी जिम्मेवारी उन सब लोगों पर है जो अपने आपको गांधीजी के अनुयायी मानते हैं। लेकिन अफसोस की बात तो यह है कि वे लोग जो गांधीजी का सिद्धान्तों का अपने आपको अनुयायी मानते हैं वास्तव में अभी तक उन सिद्धान्तों का स्वयं सच्चे रूप में पालन करने

में असमर्थ रहे हैं। देश में अब तक जो सत्याग्रह आंदोलन चला, और देशी राज्यों में हाल में जो आन्दोलन चले वे भी महात्मा गांधी के मायने में अहिंसक नहीं कहे जा सकते। और लेखक का तो यह विश्वास है कि हमको अब तक सत्याग्रह आन्दोलनों के फलस्वरूप जो कुछ सफलता मिली है उसका कारण यह नहीं रहा है कि हमारे आन्दोलन अहिंसक थे बल्कि यह कि हमारे विरोधी सरकार को हमारी संगठित जन शक्ति के सामने लाजमी रूप से झुकना पड़ा है। महात्मा गांधी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। और इसकी वजह यह है कि अब तक जो आन्दोलन कांग्रेस की ओर से और देशी-राज्यों में चले वे केवल क्रियात्मक रूप में ही अहिंसक थे किन्तु वचन और विचार में हमारे हिंसा अवश्य रही है।

महात्मा गांधी जिस अहिंसा की बात करते हैं और जिसके आधार पर वह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को चलाना चाहते हैं वह केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है। उनका कहना है कि हमको अपने विरोधी के प्रति भाषण और विचार से भी अहिंसक होना चाहिए ताकि उसके सद्भावों को हम जागृत कर सकें और उसका हृदय परिवर्तन कर सकें। अहिंसा की इस लड़ाई में विरोधी से उसकी इच्छा के विरुद्ध उसको मजबूर करके कोई कार्य कराने के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं है। हमें तो अपने त्याग से और उसके प्रति अपने असीम प्रेम से उसके हृदय को जीत लेना और उसे सन्मार्ग पर लाना है। महात्माजी की इस नीति से किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह सम्भव है?

अहिंसा की इस नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मानव स्वभाव का इस हद तक विकास होकि मनुष्य अपने स्वार्थ के सामने सद्भावों को अधिक महत्व दे। जब तक मानव स्वभाव का इतना विकास नहीं हो जाता, हृदय-परिवर्तन की बात करना बेकार है, क्यों कि हृदय-परिवर्तन का होना उसी दशा में सम्भव है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत और संकीर्ण स्वार्थ की अपेक्षा सद्भावों की कद्र करे। इस सम्बन्ध में एक कठिनाई यह भी है कि मानव समाज का अब तक का विकास हिंसा के साधनों से ही हुआ है। शोषक वर्ग को शोषित वर्ग ने

हृदय परिवर्तन द्वारा नहीं बल्कि उनकी इच्छा के विरुद्ध अपनी संगठित शक्ति द्वारा ही शोषण करने के साधनों से अभी तक वञ्चित किया है। अतः साधारणतया आज हिंसा के वातावरण में विकसित और पोषित मनुष्य स्वभाव को हृदय परिवर्तन के इस सिद्धान्त पर विश्वास नहीं होता और जीवन की वास्तविक समस्याओं का हल करने के लिए वह इस प्रकार के संदिग्ध सिद्धान्तों की शरण लेने में हिचकिचाता है।

इस दृष्टि से मनुष्य समाज आज भी रूढ़िवादी है और वह नवीन प्रयोग करने को तैयार नहीं मालूम पड़ता। यही वजह है कि अधिकांश कांग्रेसी भी आज हृदय परिवर्तन के सिद्धान्त में भरोसा नहीं रखते और विचार और भाषण में उनके हिंसा आ जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि जिस अहिंसा पर महात्माजी जोर देते हैं उसकी सफलता के लिये मानव स्वभाव में इस क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। लेकिन जब तक मनुष्य स्वभाव में इस प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होता तब तक के लिए मनुष्य अपनी राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को वैसे ही नहीं छोड़ेगा, वह उनका अपनी प्राचीन पद्धति से ही हल अवश्य करेगा। फिर इस सम्बन्ध में एक प्रश्न और विचारणीय है कि समाज के मौजूदा स्वार्थपूर्ण संगठन में क्या इस प्रकार का मनुष्य स्वभाव में गुणात्मक (Qualitative) परिवर्तन सम्भव हो सकेगा? क्या यह अधिक सम्भव नहीं जान पड़ता कि मौजूदा आर्थिक वैषम्य का अन्त करने के लिए मनुष्य को एक बार फिर अपने उसी प्राचीन मार्ग को अपनाना पड़े। और जब इस प्रकार समाज के खाने पीने का प्रश्न हल हो जावेगा तब ही उनमें गुणात्मक परिवर्तन हो सकेंगे। अहिंसा की स्थापना के लिए हिंसा आवश्यक है जो लोग इस बात को कहते हैं उनका यही अर्थ है। यही समाजवादी दृष्टिकोण है। किन्तु गांधी जी का दृष्टिकोण इससे विपरीत है। उनका कहना है कि यदि हमने अपने साध्य के लिए हिंसक साधनों का उपयोग किया तो हम आगे चलकर अहिंसा की स्थापना नहीं कर सकेंगे। साधन और साध्य में कोई भेद नहीं है। साध्य की प्राप्ति के लिए छोटे मार्ग (Short Cut) को ढूँढ़ना अन्त में गलत साबित होगा। रूस की मिसाल वह हमा

करते हैं इस दलील में तथ्य है इससे हम इन्कार नहीं कर सकते। लेकिन इससे भी अधिक तथ्य इस दलील में है कि अगर मौजूदा सवालों को हल करने के लिए अब तक विकसित अहिंसा सफल न हुई तो जनता अहिंसा के विकास के दिन की प्रतीक्षा न करेगी और न वह अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने से रोकी जा सकेगी। महात्मा जी ने स्वयं इस बात को हाल में मंजूर किया है। अतः अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट करने वालों की यह जिम्मेदारी है कि वे समझदारी से उसका पालन करें। इसमें उसका भावी विकास निहित है। किन्तु शोचनीय बात तो यह है कि आज हमारा देश महात्मा जी के व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित है, न कि उनके सिद्धान्तों से। और यह बात हानिकर है। साथ ही व्यवहारिक दृष्टि से तो यह निश्चित है कि अहिसा की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि उसके आधार पर जन-आन्दोलन चलाये जा सकें, और वह मौजूदा समस्याओं को हल करने में सहायक हो। यदि ऐसा सम्भव न हुआ तो जन-आन्दोलन अहिंसा के लिए न रोके जा सकेंगे—यह निर्विवाद सत्य है।

राजस्थान : ३१ जुलाई १६३६

: १ :

भारतवर्ष में सहकारी भूमि-बन्धक बैंक

प्रत्येक मनुष्य यह अच्छी तरह जानता है कि संसार में आज कोई भी उद्योग-धन्धा बिना पूँजी के नहीं चलाया जा सकता। कृषि के लिए भी पूँजी की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि अन्य किसी व्यवसाय के लिए। और यदि हमें अपने देश में कृषि सम्बन्धी उन्नति करना है, तो अन्य आवश्यक साधनों के साथ-साथ पूँजी का भी आवश्यक परिमाण में उचित प्रबन्ध करना होगा।

केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी ने इस विषय पर विचार करते हुए भारतीय किसानों की आर्थिक मांग को समय की दृष्टि से दो मुख्य भागों में बांटा है:— (१) साधारण खेतीबारी का काम चलाने के लिए थोड़े समय के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। इसमें उस तमाम ऋण का समावेश हो जाता है, जो पशु, बीज खाद, हल तथा अन्य यन्त्र खरीदने के लिए, लगान देने के लिए तथा अपने कुटुम्ब के पालन के लिए लिया जाता है। (२) इसके अतिरिक्त किसान को अधिक लम्बे समय के लिए स्थिर पूंजी की आवश्यकता होती है। यह पूंजी पुराने ऋण को चुकाने के लिए, भूमि की चकबन्दी करने के लिए, उसको अधिक उपजाऊ बनाने के लिए, कुआं खोदने के लिए तथा कीमती औजार खरीदने के काम में लायी जाती है।

हमारे देश की ग्रामीण जनता की आर्थिक मांग आज भी अधिकतर गांव के बनिये, महाजन और शहर के साहूकार और सराफों द्वारा ही पूरी होती है। सैकड़ों वर्षों से यह लोग हमारे अशिक्षित और निर्धन ग्रामीण भाइयों का आर्थिक शोषण कर रहे हैं। भारतवर्ष में सहकारिता-आन्दोलन का श्रीगणेश इसी उद्देश्य को लेकर किया गया था कि कृषकों को महाजनों के चंगुल से निकाल कर उनको आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की जावे। किन-किन कारणों से ३२ वर्ष के उपरान्त भी सहकारिता-आन्दोलन महाजनों को अपने स्थान से नहीं

हटा सका है. यह बताना इस लेख के उद्देश्य से परे है। फिर भी यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि महाजनों और साहूकारों का स्थान आज भी हमारी ग्रामीण बैंकिंग व्यवस्था में सुदृढ़ और सुरक्षित है।

सहकारिता-आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में लोगों का ऐसा बिश्वास था कि ग्राम्य सहकारी साख समितियां किसानों को थोड़े समय और अधिक समय दोनों प्रकारों का ऋण दे सकेंगी। और वास्तव में पहले-पहल साख समितियों ने इसी सिद्धान्त पर कार्य किया, और कुछ तो अभी तक इसी नीति का अनुसरण करती हैं। किन्तु अब यह अच्छी तरह समझ लिया गया है कि ग्राम्य साख समितियों का उचित क्षेत्र थोड़े समय के लिए कर्ज देना है और अधिक समय के लिए उधार देने के वे सर्वथा अयोग्य हैं। इस वास्ते सहकारितावादियों तथा अन्य विशेषज्ञों का यह मत है कि किसानों को अधिक समय के लिये ऋण देने का कार्य भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा ही सफलता पूर्वक किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तीय बैंकिंग कमेटियों तथा सेन्ट्रल बैंकिंग कमेटी का भी यही मत है। भारतवर्ष में भूमि-बन्धक बैंकों की वर्तमान स्थिति कैसी है, उनकी उन्नति में क्या-क्या कठिनाइयां हैं तथा उनको किस प्रकार हल किया जा सकता है, इन पृष्ठों में हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे।

भूमि-बन्धक बैंक तीन प्रकार के होते हैं—(१) सहकारी, (२) गैर-सहकारी और (३) अर्ध-सहकारी। सहकारी भूमि बन्धक बैंक के सदस्य ऋण लेने वाले होते हैं। बैंक का हिस्सा पूंजी नहीं होता। जो भूमि-बन्धक रख दी जाती है, उसकी जमानत पर बन्धक बाण्ड बेचे जाते हैं और उनसे पूंजी प्राप्त की जाती है। इन बैंकों का ध्येय लाभ प्राप्ति नहीं, वरन् अपने सदस्यों के लिए थोड़े सूद पर पूंजी का प्रबन्ध करना होता है। जर्मनी के लेण्डशेफ्टन इस प्रकार के बैंक हैं, और छोटे किसानों की मांग को पूरा करने के ये विशेष रूप से उपयुक्त हैं।

गैर-सहकारी बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों की तरह मिश्रित पूंजी वाली संस्थाएं होती हैं और इनका ध्येय हिस्सेदारों के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना होता है। ये बैंक यूरोपीय देशों में सर्वत्र पाये जाते हैं और राज्य का इन पर नियन्त्रण रहता है, ताकि ऋण लेने वालों को यह तङ्ग न कर सकें।

ये बैंक बड़े बड़े जमीन्दारों के लिए उपयुक्त हैं।

अर्ध-सहकारी बैंकों में ऊपर बताये गये दोनों प्रकार के बैंकों के कुछ कुछ लक्षण पाये जाते हैं। हमारे देश में अभी तक जितने भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना की गई है, वे सब अर्ध सहकारी हैं। ये बैंक परिमित दायित्व वाली संस्थायें हैं, इनके सदस्य अधिकतर ऋण लेने वाले ही होते हैं; किन्तु कुछ सदस्य ऐसे भी ले लिए जाते हैं, जो ऋण लेने वाले नहीं होते। इन सदस्यों को इस अभिप्राय से लिया जाता है कि बैंक को पूंजी प्राप्त करने में तथा प्रबन्ध करने में सहायता मिले। यह लोग प्रान्त के प्रसिद्ध व्यापारी होते हैं। आजकल सहकारितावादियों की प्रवृत्ति ऐसे सदस्यों की संख्या को कम करने की है जिससे कि बैंक पूर्ण सहकारी संस्था बनाई जा सके।

भारतवर्ष में भूमि-बन्धक बैंकों का प्रचार मुख्य रूप से तीन प्रान्तों में हुआ है पंजाब, मद्रास और बम्बई। पंजाब इसमें अगुआ है। इन तीन प्रान्तों के अतिरिक्त बंगाल और आसाम में भी कुछ भूमि-बन्धक बैंक कार्य कर रहे हैं। अब हम संक्षेप में इन प्रान्तों के विषय में कुछ लिखेंगे।

पंजाब—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, भारतवर्ष में भूमि-बन्धक बैंकों का श्रीगणेश करने का श्रेय पंजाब प्रान्त को है। सर्व प्रथम १९२० में झांग के भूमि-बन्धक बैंक की स्थापना हुई थी। इस समय वहां १२ भूमि-बन्धक बैंक कार्य कर रहे हैं। मियां वाली और झांग बैंकों को छोड़ कर अन्य सब बैंक तहसील में कार्य करते हैं। इन दो बैंकों का कार्य-क्षेत्र पूरा जिला है। बैंकों के सदस्य साख समितियों के अलावा वही लोग हो सकते हैं, जो कि भूमि के स्वामी हैं। पहले किसी भी सदस्य को भूमि की मालगुजारी के तीस गुने से अधिक ऋण नहीं दिया जा सकता था, किन्तु कुछ समय पहले यह संख्या ३० से घटा कर ५ कर दी गई थी। पर सांसारिक व्यापारिक मंदी के कारण बैंकों की स्थिति गड़बड़ हो जाने से तथा पुराने ऋण का समय पर चुकता न होने से १९३२ से ऋण देना लगभग बन्द कर दिया है। ऋण पुराने कर्जे को चुकाने के लिए, भूमि को छुड़ाने के लिए तथा उसके सुधार के लिए दिया जाता है। आरम्भ में जमीन खरीदने को भी ऋण दिया जाता था, परन्तु जब यह देखने

में आया कि लोग इस अधिकार का बहुत दुरुपयोग करने लग गये, तो इस कार्य के लिए ऋण देना सर्वथा बन्द कर दिया गया। सहकारिता विभाग ने एक सदस्य को अधिक से अधिक ५०००) रु० देना निश्चित किया है। अभी तक केवल ७ बैङ्कों ने इस नीति को स्वीकार किया है। अन्य ४ बैङ्कों ने यह रकम १०,०००) रु० और १ बैङ्क ने १५,०००) रु० निश्चित की है। कर्ज देने की अवधि भी अब ५ वर्ष से बढ़ा कर १० वर्ष कर दी गई है। प्रायः यह भी देखने में आया है कि बैङ्क के डायरेक्टर लोग ही अपने कर्त्तव्य को भले प्रकार नहीं समझते और रुपया कर्ज देने के मामले में अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों के साथ पक्षपात करते हैं। स्वयं भी मनमाना ऋण ले लेते हैं। इस कारण अब ५ बैङ्कों ने तो डाइरेक्टरों को ऋण देना बिलकुल बन्द कर दिया है और केवल एक बैङ्क ऐसा है, जहां बिना किसी रोकटोक के डाइरेक्टरों को कर्ज मिल जाता है। अन्य ६ बैङ्कों में डाइरेक्टरों को तभी ऋण मिल सकता है, जबकि मीटिंग में दो तिहाई डाइरेक्टर उपस्थित हों तथा सब ऋण देने को राजी हों और सरकारी सदस्य अपनी स्वीकृति लिख कर दे दे। पंजाब के बैङ्क स्वयं बन्धक बाण्ड नहीं बेचते और उनको कार्यशील पूंजी का बहुत बड़ा भाग सरकार से ऋण स्वरूप प्राप्त हुआ है। प्रान्तीय बैङ्क ने ५ लाख रुपये के डिबेञ्चर भी बेचे हैं, जिनकी अदायगी की २५ वर्ष की गारण्टी सरकार ने दी है।

मद्रास—मद्रास प्रान्त में भूमि-बन्धक बैङ्क स्थापित करने की स्वीकृति सरकार से १९२५ में मिली थी, उसी वर्ष दो बैङ्कों की स्थापना भी की गई। इस समय प्रान्त में एक केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैङ्क और ६७ और भूमि-बन्धक बैङ्क कार्य कर रहे हैं। प्रत्येक सदस्य को अधिक से अधिक ५०००) रु० कर्ज दिया जा सकता है। केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैङ्क के स्थापित होने के पहले, प्रत्येक बैङ्क अपनी कार्यशील पूंजी स्वयं बन्धक बाण्ड बेच कर प्राप्त करता था। सरकार ने, जितने मूल्य के बाण्ड बैङ्क बेच ले, उतने ही मूल्य के स्वयं खरीदने का वचन दे दिया था। पर सारे प्रान्त के लिए २॥ लाख से अधिक और एक बैङ्क के ५०,०००) रु० अधिक के बाण्ड सरकार खरीदने को तैयार नहीं थी। १९२९ में केन्द्रीय बैङ्क को जन्म दिया गया। और अब थोड़े से बैङ्कों को छोड़

कर अन्य सब बैङ्कों के लिए उनके पास रखी हुई बन्धक-भूमि के आधार पर, जो अब प्रत्येक बैङ्क ने केन्द्रीय बैङ्क को हस्तान्तर कर दी है, केन्द्रीय बैङ्क बाण्ड बेच कर पूंजी का प्रबन्ध करता है। प्रान्तीय सहकारी बैङ्क ने केन्द्रीय बैङ्क के १ लाख रुपये के डिबेञ्चर खरीदे हैं। प्रान्तीय सरकार ने भी उन डिबेञ्चरों पर जो कि पहले ५ वर्षों में बेचे जावें, ६ प्रतिशत सूद की गारण्टी देकर केन्द्रीय बैङ्क की सहायता की। बैङ्क के बोर्ड पर रजिस्ट्रार सरकार की ओर से ट्रस्टी नियुक्त किया गया है। उसका कर्तव्य होगा कि वह इस बात का ध्यान रखे कि बैङ्क डिबेञ्चर खरीदने वालों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करता है अथवा नहीं। केन्द्रीय बैङ्क की स्थापना के बाद पहले जो प्रत्येक बैङ्क के डिबेञ्चर बेचने से परस्पर अनुचित प्रतिद्वन्द्विता और गड़बड़ होती थी, अब उसका अन्त होगया है। लगभग दो वर्ष हुए प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा ने "मद्रास सहकारी भूमि-बन्धक एक्ट" पास करके प्रान्तीय सरकार को यह अधिकार दे दिया है कि वह भूमि-बन्धक बैङ्क के डिबेञ्चर की मूल पूंजी और सूद दोनों ही की गारण्टी दे सके और बैङ्कों को अन्य कानूनी कठिनाइयों से भी मुक्त कर सके। उसी वर्ष केन्द्रीय व्यवस्थापक मण्डल ने भारतीय ट्रस्ट एक्ट (Indian Trust Act) को संशोधित करके केन्द्रीय संस्थाओं द्वारा निकाले हुए डिबेञ्चरों को ट्रस्ट सिक्यूरिटी में शामिल कर लिया है। मद्रास में भी अन्य प्रान्तों की तरह बैङ्क ऋण केवल तीन कार्यों के लिए ही देता है (१) भूमि छुड़ाने या पुराना ऋण चुकाने के लिए, (२) भूमि के सुधार के लिए और (३) विशेष परिस्थिति में नई भूमि खरीदने के लिए। बैङ्क अपने दिये हुए ऋण पर ६॥ प्रतिशत सूद लेते हैं।

बम्बई:—बम्बई में भूमि-बन्धक बैङ्कों की स्थापना हुए बहुत समय नहीं हुआ है। इसलिए यहां यह संख्या में अधिक नहीं हैं। बैङ्कों के सदस्यों को जितना ऋण लेना होता है, उसके पांच प्रतिशत मूल्य के हिस्से उन्हें खरीदने पड़ते हैं। बैङ्क भूमि के मूल्य की आधी रकम तक ऋण दे सकता है। ऋण १०-३० वर्ष के लिए दिया जाता है। बैङ्कों की प्रबन्ध कमेटी में रजिस्ट्रार तथा प्रान्तीय सहकारी बैङ्क के प्रतिनिधि रहते हैं। हाल ही में यहां केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैङ्क की स्थापना हुई है। जो उद्देश्य रजिस्ट्रार ने भूमि-बन्धक बैङ्कों के

निर्धारित किये हैं, उन्हीं कार्यों के लिए कर्ज दिया जाता है। सरकार ने प्रारम्भिक काल में महकमा माल का एक एक अफसर प्रत्येक बैङ्क को दे दिया है, जो कि भूमि के मूल्य को कूतता है।

बङ्गाल और आसाम में भी कुछ भूमि बन्धक बैङ्क कार्य कर रहे हैं इन प्रान्तों में भी बैङ्क उन्हीं कार्यों के लिए ऋण देते हैं, जिनके लिए अन्य प्रान्तों में दिया जाता है। ऋण दोनों प्रान्तों में अधिक से अधिक २० वर्ष के लिए दिया जाता है। बङ्गाल में प्रत्येक सदस्य को अपने हिस्से के मूल्य से १० गुना और आसाम में २० गुणा ऋण मिल सकता है।

हमारे देश में भूमि-बन्धक बैङ्कों की वर्तमान स्थिति क्या है, इस विषय में ऊपर के विवरण से आवश्यक ज्ञान पाठकों को हो सकेगा। अब देखना यह है कि इन बैङ्कों की भावी उन्नति के लिए हमें विशेषकर किन बातों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना जरूरी है। इस विषय में सेण्ट्रल बैङ्किग कमेटी के सामने निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित थे:—

(१) ऐसी कौन कौन-सी आवश्यकतायें हैं, जिनके लिए किसान को अधिक समय के लिए ऋण की जरूरत पड़ती है। कमेटी ने नीचे लिखे तीन कार्यों के लिए ऋण देने की सिफारिश की है।

(क) किसान की भूमि और मकान को छुड़ाने के लिए तथा पुराने ऋण को चुकाने के लिए।

(ख) भूमि तथा खेती-बारी के ढङ्ग सुधारने के लिए तथा किसानों के मकान बनवाने के लिए।

(ग) विशेष अवस्थाओं में भूमि खरीदने के लिए।

यहां पर संकेत कर देना अनुचित नहीं होगा कि बैङ्क के कर्मचारियों तथा डाईरेक्टरों को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कर्जदार रुपये का ठीक ठीक उपयोग करता है अथवा नहीं। यदि बैंक किसानों को, जब वे भूमि के सुधार के लिए कर्ज लें, किसी प्रकार यह सलाह दे सके कि कौन-कौन सुधार अधिक उपयोगी होंगे, तथा कुछ कर्मचारी इस कार्य के लिए नियुक्त कर दे कि वे इस बात का ध्यान रखें कि कर्जदार रुपये का ठीक ठीक उपयोग कर रहा है

अथवा नहीं, तो बहुत ही अच्छा हो। परन्तु यह सम्भव है अथवा नहीं, यह प्रत्येक बैङ्क को निजी परिस्थिति देख कर निश्चय करना होगा लेखक के मत में कुछ बैङ्कों को मिल कर यह कार्य करने में अधिक सुविधा होगी। इसी प्रकार जब ऋण पुराने कर्जे को चुकाने के लिए दिया जावे, तो कर्ज लेने वाले से यह शर्त लिखा ली जावे कि आगे वह अनुत्पादक कार्य के लिए कभी ऋण नहीं लेगा। मद्रास में ऐसा अब भी किया जाता है।

(२) कमेटी के सामने दूसरा प्रश्न यह था कि ऋण अधिक से अधिक कितने समय के लिए देना चाहिये और उसके चुकाये जाने का ढङ्ग क्या होना चाहिए। कमेटी के मत में यह ऋण लेने वालों की क्षमता तथा जिस कार्य के लिए ऋण लिया जावे उस पर निर्भर रहेगा। परन्तु साधारणतया रुपया ५ वर्ष से लेकर २० वर्ष तक दिया जावेगा। आगे चल कर यह समय ३० वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है। प्रत्येक सदस्य को ५०००) रु० या बन्धक रखी हुई भूमि के मूल्य के आधे में जो रकम कम हो, उससे अधिक ऋण न दिया जावे। ऋण चुकाने के सम्बन्ध में कमेटी की राय है कि ऋण सूद सहित बराबर बराबर किस्तों में लिया जावे। किन्तु यदि परिस्थिति के अनुसार अन्य किसी ढङ्ग को उत्तम समझा जावे, तो उसे काम में लाया जावे।

(३) तीसरा प्रश्न कमेटी के सामने पूंजी के विषय में था। कमेटी की राय में बैङ्क की पुंजी दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है। बैङ्क के हिस्से बेच कर और बन्धक रखी हुई भूमि की जमानत पर बन्धक बाण्ड बेच कर। हिस्सा-पुंजी या तो आरम्भ में ही हिस्से बेच कर या ऋण लेते समय दी हुई रकम में से ५ प्रतिशत काट कर प्राप्त की जा सकती है। प्रारम्भिक काल में सरकार बिना सूद रुपया देकर बैङ्क को सहायता दे सकती है। यह व्यवस्था भूमि-बन्धक बैङ्कों की जब तक पूर्ण उन्नति नहीं होती, तब ही तक के लिए ठीक है। बाद में प्रान्तीय सरकारों को बैङ्कों के हिस्से खरीद कर इनको सहायता पहुँचाना चाहिए।

कार्यशील पूंजी का अधिकतर भाग डिबेञ्चरों द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। ये डिबेञ्चर भूमि-बन्धक रख कर दिये हुए ऋण में अधिक मूल्य के नहीं

होने चाहिए और प्रान्त भर के लिए डिवेञ्चर निकालने का अधिकार केवल केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैङ्क को होगा, जो स्थानीय भूमि बन्धक बैङ्कों के पास बन्धक रखी हुई भूमि के आधार पर, जो कि केन्द्रीय बैङ्क को हस्तान्तरित कर देनी चाहिए. डिवेञ्चर निकालेगा और स्थानीय बैङ्कों को पूंजी प्रदान करेगा। डिवेञ्चरों को सफलतापूर्वक वेचने के लिए कमेटी की राय में सरकार को डिवेञ्चरों के सूद की गारण्टी कर देनी चाहिए। साथ ही डिवेञ्चरों को ट्रस्टी सिक्योरिटी बनाने की भी सिफारिश की थी और पिछले वर्ष भारतीय ट्रस्ट एक्ट में संशोधन द्वारा इस सिफारिश को कार्यरूप में परिणित कर दिया गया है। यदि आवश्यकता प्रतीत हो, तो सरकार डिवेञ्चरों को खरीद कर भी बैङ्क को सहायता दे सकती है, ऐसी कमेटी की राय है।

(४) भूमि-बन्धक बैङ्क और सहकारी साख समिति के परस्पर सम्बन्ध के विषय में कमेटी का कहना है कि इन दोनों संस्थाओं का एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर कार्य करना ही ठीक होगा। हां, यदि कोई साख समिति का सदस्य भूमि-बन्धक बैङ्क से ऋण लेने के लिए प्रार्थना-पत्र दे, तो बैङ्क इस विषय में समिति से केवल सलाह ले सकता है। समिति ऋण की जिम्मेदार किसी हालत में नहीं होगी।

(५) कमेटी भूमि बन्धक बैङ्कों के लिए बाहर से डिपोजिट लेना उचित नहीं समझती, क्योंकि इनके आधार पर अधिक समय के लिए ऋण देना ठीक नहीं है।

(६) कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि भूमि-बन्धक बैङ्कों का पूर्ण उन्नति के लिए एक ऐसे विशेष कानून के बनाने की आवश्यकता है, जिससे बैङ्क बन्धक रखी हुई भूमि को ऋण के समय पर नहीं चुकने पर बिना अदालत का शरण लिए अपने कब्जे में कर ले और वेच दे। इस प्रकार बैङ्क अदालत में जाकर व्यर्थ समय और रुपया नष्ट करने से बच सकेगा। यूरोपीय देशों में भी ऐसे कानून मौजूद है। जो लोग इसके विरोध में हैं, उन लोगों का कहना है कि इस प्रकार के कानून के बन जाने से बैङ्क ऋण देते समय भूमि की भले प्रकार जांच नहीं करेगा और उसके विरुद्ध जनता में विरोधी वातावरण उपस्थित

हो जावेगा। प्रान्तीय कमेटियों ने भी इस मांग का विरोध किया है। किन्तु केन्द्रीय बैङ्किंग कमेटी का मत है कि बिना यह विशेष अधिकार दिये डिबेञ्चर बेच कर कार्यशील पूंजी प्राप्त नहीं की जा सकती। कमेटी ने इस मांग की ताईद की है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष के कुछ प्रान्तों में, जैसे पूरा पञ्जाब और मध्यप्रान्त, संयुक्तप्रान्त तथा सेण्ट्रल एरिया के कुछ भागों में, भूमि-हस्तान्तर कानून के कारण उन्हीं जाति के लोगों को भूमि बेची जा सकती है, जो खेतिहर जातियां करार दे दी गई हैं। इन प्रान्तों में भूमि-बन्धक बैङ्कों को अधिकार मिल जाने पर भी भूमि बेचने में अड़चन होगी। इस वास्ते इस कानून में भी ऐसा परिवर्तन आवश्यक है कि भूमि बेचने में कोई रुकावट न हो। बैङ्किंग कमेटी ने इस विषय पर लिखा है कि उन तमाम कानूनों में जो भूमि बेचने में किसी प्रकार की रुकावट उपस्थित करते हैं, इस प्रकार का परिवर्तन कर दिया जावे कि जिससे बैङ्क भूमि पर अधिकार कर सकें और बेच सकें।

भूमि-बन्धक बैङ्कों को बिना अदालत में गये जमीन बेचने का अधिकार देने की सिफारिश करते हुए कमेटी ने यह भी लिखा है कि देनदार के हितों की रक्षा करने के लिए देनदार या हिस्सेदार तथा अन्य किसी लेनदार को यह अधिकार होना चाहिए कि यदि वह समझता है कि बैङ्क का कार्य न्यायपूर्ण नहीं है, तो वह अदालत की शरण में जा सके।

अब हमें बैंकिंग कमेटी की तनिक उस सिफारिश की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसमें कि बैङ्क को बिना अदालत में गये भूमि बेचने का अधिकार देने का समर्थन किया गया है। उन तमाम दलीलों के अतिरिक्त, जो कि इस मांग के विरुद्ध पेश की जा चुकी हैं, एक बात और विचारणीय है। यदि बैङ्क किसी देनदार की भूमि, इस अपराध में कि वह समय पर ऋण की, बिना किसी उचित कारण के अदायगी नहीं करता है, उसकी जमीन बेच देता है, तो उसका परिणाम केवल देनदार को आजन्म अपनी जिविका उपार्जन करने के साधन से वञ्चित करना ही नहीं होता, वरन् उसकी भावी पीढ़ियों को भी उनसे वञ्चित किया जाता है। इसलिए लेखक के मत में बजाय भूमि के बेचने के बैङ्क को एक निश्चित समय के लिए भूमि पर कब्जा कर उसकी आय को ऋण को चुकाने

में लगाने का अधिकार दे दिया ज वे, और उस निश्चित समय के उपरान्त जब कि पूरे कर्ज की अदायगी हो जावे, भूमि वापिस उसके मालिक को लौटा दी जावे। ऐसा करने से बैङ्क और देनदार दोनों के प्रति न्याय हो सकेगा।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे देश में भूमि-बन्धक बैङ्कों की यथेष्ट उन्नति कृषि की उन्नति के लिए नितान्त अ वश्यक है। क्या हम भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सरकारों से यह आशा कर सकते हैं कि वे इन बैङ्कों का अधिकाधिक प्रचार करने में सहकारितावादियों को आवश्यक सहयोग देकर देश के आर्थिक उद्धार में सहायक होंगी?

[विश्वामित्र : जून १९३७]

: २ :

औद्योगिक पूँजी की व्यवस्था की समस्या

एक समय था जब कि भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों की यह गलत धारणा थी कि भारतवर्ष सदा से ही कृषि प्रधान देश रहा है, और भविष्य में भी उसका कल्याण कृषि प्रधान बने रहने में ही है, परन्तु आज स्थिति बहुत बदल गई है। अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी अब इस बात को समझने लग गया है कि हमारे देश की मौजूदा आर्थिक व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष ही यह है कि पृथ्वी पर जन-संख्या का भार अत्यधिक बढ़ा हुआ है। दूसरे शब्दों में आवश्यकता से अधिक जनसंख्या आज खेती में लगी हुई है, और देश की आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए पहली अनिवार्य शर्त यही है कि पृथ्वी का भार कम किया जावे। पृथ्वी का भार कम करने का यह अर्थ है कि आवश्यकता से अधिक लोग जो खेती में लगे हुए हैं, उनको खेती से हटा लिया जावे और उनको अन्य धन्धों में लगाया जावे। और यह भी बात सर्वमान्य है कि देश में औद्योगिक उन्नति के अतिरिक्त इन लोगों को कार्य में लगाने का और कोई साधन नहीं है। अस्तु, हमारे देश की औद्योगिक उन्नति अत्यन्त आवश्यक है, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। न केवल अर्थ शास्त्रियों किन्तु राजनीतिज्ञों का भी ध्यान अब इस ओर क्रियात्मक रूप से आकर्षित हुआ है। यही कारण है कि देश की एकमात्र राजनीतिक संस्था कांग्रेस ने भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की थी, जिसका काम देश की औद्योगिक उन्नति के लिए एक वृहत योजना तैयार करना था।

किसी भी उत्पादन कार्य का एक आवश्यक साधन पूंजी है। और आज की आर्थिक अवस्था में तो, जिसका बड़े पैमाने पर उत्पत्ति एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, पूंजी का महत्व बहुत बढ़ा हुआ है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश की औद्योगिक उन्नति हो, तो हमें आवश्यक पूंजी के प्रश्न को सफलतापूर्वक हल करना होगा। बिना पूंजी सम्बन्धी उचित व्यवस्था हुए, औद्योगिक प्रगति एक असम्भवनीय बात है।

किसी भी उद्योग-धन्धे को चलाने के लिए दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता होती है : दीर्घकालिक पूंजी और अल्पकालिक पूंजी। दीर्घकालिक पूंजी की आवश्यकता मशीनरी खरीदने के लिए, इमारत बनवाने के लिए तथा अन्य अधिक समय तक चलने वाले औजारों को मोल लेने के लिए होती है, इसके अलावा चालू पूँजी के लिए भी प्रत्येक उद्योग-धन्धे को रुपये की आवश्यकता होती है, जैसे कच्चा माल खरीदने के लिए, तैयार माल को बेचने सम्बन्धी खर्च के लिए, मजदूरों को वेतन चुकाने के लिए तथा और प्रतिदिन का काम चालू रखने के लिए। जब तक किसी उद्योग धन्धे की इन दोनों प्रकार की पूंजी सम्बन्धी मांग के प्रश्न का सफलतापूर्वक हल नहीं हो जाता, उस उद्योग-धन्धे की उन्नति होना सम्भव नहीं हो सकता। औद्योगिक पूंजी के सम्बन्ध में हमारे देश की वर्तमान स्थिति कितनी असन्तोषजनक है, अब हम इस विषय पर तनिक प्रकाश डालेंगे।

औद्योगिक पूंजी प्राप्त करने के दो मुख्य साधन हैं। एक साधन तो यह है कि औद्योगिक कम्पनी जनता को अपने हिस्से बेच कर और डिबेञ्चर द्वारा पूंजी प्राप्त करे। दूसरा साधन बैङ्कों का है। भारतवर्ष में दोनों ही प्रकार के साधनों का अभी तक सन्तोषप्रद विकास नहीं हुआ है। पहले हम डिबेञ्चर द्वारा पूंजी प्राप्त करने के साधन पर ही विचार करेंगे। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात जान लेने की यह है कि 'डिबेञ्चर' शब्द से हमारा अर्थ क्या है? डिबेञ्चर' एक प्रकार के दस्तावेज को कहते हैं, जिनके आधार पर एक निश्चित सूद की दर पर मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियां जनता से रुपया उधार लेती हैं। पूंजी प्राप्त करने का यह एक साधन है। किन्तु भारतवर्ष में अभी 'डिबेञ्चरों' का प्रचार जनता में सन्तोषजनक नहीं है। इसके कई कारण हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि अन्य देशों की भांति हमारे यहां सर्व साधारण को इस बात की सुविधा बहुत कम है कि किसी विश्वसनीय तरीके से वे यह मालूम कर सकें कि उनको अपना रुपया किन कम्पनियों के डिबेञ्चरों को मोल लेने में लगाना चाहिए और किन में नहीं। पाश्चात्य देशों में बैङ्कों का यथेष्ट प्रचार है और बैङ्क हो अपने अपने ग्राहकों को इस मामले में उचित सलाह देते हैं। परन्तु हमारे देश में बैङ्को का प्रचार अभी तक नहीं के बराबर ही है। दूसरा कारण

यह भी है कि औद्योगिक कम्पनियों के फेल हो जाने से लोगों का इस प्रकार रुपया लगाने का साहस नहीं होता। इसके अलावा बहुत से लोग जो रुपया लगाना भी चाहते हैं, वे सट्टे की प्रवृत्ति के होते हैं, और इसलिए अपना रुपया उसी स्थान पर लगाना पसन्द करते हैं, जहां उनको ब्याज के अतिरिक्त अपनी पूंजी में वृद्धि होने की भी आशा रहती है। पाश्चात्य देशों में बीमा कम्पनियां भी अपने अतिरिक्त कोष का उपयोग औद्योगिक कम्पनियों के 'डिबेञ्चर' खरीदने में काफी मात्रा में करती हैं; किन्तु हमारे देश की बीमा कम्पनियां अभी तक इस ओर से सर्वथा उदासीन-सी रही हैं। देश की औद्योगिक उन्नति के लि[ए] इस बात की आवश्यकता है कि वे अपनी मौजूदा नीति को बदलें और अप[ने] अतिरिक्त कोष का औद्योगिक 'डिबेञ्चर' आदि खरीदने में पूरा-पूरा उपयोग करें। 'डिबेञ्चर' पर आज जितना टिकट-कर लगाना पड़ता है, वह भी अधिक है, और उनके प्रचार में किसी सीमा तक वह बाधक है। इनमें भी कमी करने की आवश्यकता है : और उपर्युक्त समस्त कारणों के अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण कारण है, जिसका उल्लेख कर देना यहां उचित है। इस अन्तिम कारण का सम्बन्ध भारतीय सरकार की नीति से है। यद्यपि भारत सरकार ने उद्योग-धन्धों को आवश्यक संरक्षण देने की नीति को स्वीकार कर लिया है और उनको इस कार्य में सहायता देने के लिए 'टेरिफ बोर्ड' नाम की एक संस्था भी स्थापित की गई है, जिसका कर्तव्य यह है कि वह आवश्यक जांच-पड़ताल करने के बाद सरकार से इस बात की सिफारिश करे कि उस उद्योग-धन्धे को, जिसके सम्बन्ध में उसने जांच की है, कितना संरक्षण प्राप्त होना चाहिए। किन्तु टेरिफ बोर्ड की सिफारिशों को सरकार हमेशा स्वीकार ही कर लेती हो, ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए काँच के उद्योग के सम्बन्ध में सरकार का निर्णय हमारे सामने है। यद्यपि टेरिफ बोर्ड ने यह सिफारिश की थी कि काँच के उद्योग को संरक्षण प्राप्त होना चाहिए; किन्तु भारत सरकार ने उनकी इस सिफारिश को अस्वीकार किया और कांच के उद्योग को संरक्षण नहीं दिया गया। इसके अलावा और भी कई उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं, जो इस बात को स्पष्ट करते हैं कि सरकार की नीति उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक नहीं रही ...

सकती, जिसके कारण जिनके पास पूंजी है, उनको उस पूंजी को देश के उद्योग-धन्धों में लगाने का विशेष उत्साह नहीं होता। इस प्रकार उक्त वर्णन के आधार पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस समय हमारे देश में कई ऐसे कारण उपस्थित हैं, जिनकी वजह से जनता से उद्योग-धन्धों के लिए आवश्यक पूंजी प्राप्त करने में यथेष्ट कठिनाई होती है, और जनता को अपनी पूंजी को उद्योग-धन्धों में लगाने के लिए कोई विशेष उत्साह नहीं होता।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं, औद्योगिक पूंजी प्राप्त करने का दूसरा साधन बैङ्कों का है। इस दृष्टि से अगर हम अपने देश की बैङ्किङ्ग अवस्था का अध्ययन करेंगे, तो उसमें हमें बड़ा भारी दोष दृष्टिगोचर होगा। भारतवर्ष में जिस प्रकार की बैङ्किङ्ग व्यवस्था का विकास हुआ है, वह सर्वाङ्गी नहीं कही जा सकती। उसका मुख्य लक्षण ही एक प्रकार से उसका एकाङ्गी होना है। देश में जितने बैङ्क हैं, अधिकतर उनमें से व्यापारिक बैङ्क ही हैं। व्यापारिक बैङ्क से हमारा अभिप्राय यह है कि ये बैङ्क देश के व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाना ही अपना एकमात्र कर्तव्य समझते हैं। भारतीय व्यापारिक बैङ्क देश के आन्तरिक व्यापार को और विदेशी विनिमय बैङ्क हमारे विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। औद्योगिक बैङ्कों का जो उद्योग-धन्धों को दीर्घकालिक पूंजी उधार दें, हमारे देश में प्रचार अत्यन्त आवश्यक है। जर्मनी जापान, अमेरिका आदि औद्योगिक राष्ट्रों में इस प्रकार के बैङ्कों का यथेष्ट प्रचार है। औद्योगिक बैङ्कों का प्रचार हमारे देश में किस प्रकार होना चाहिए, इस सम्बन्ध में हम बाद में विचार करेंगे। पहले हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि व्यापारिक बैङ्क हमारे देश की औद्योगिक उन्नति में किस प्रकार सहायक हो सकते हैं। इन बैङ्कों को चाहिए कि अपनी प्राप्त हिस्सा पूंजी (Paid up Capital) और रक्षित कोष (Reserve Funds) में से उद्योग-धन्धों को अचल सम्पत्ति (Fixed Assets) खरीदने के लिए उचित जमानत पर पूंजी उधार दें। ये बैङ्क औद्योगिक कम्पनियों के डिबेञ्चर भी खरीद सकते हैं और बाद में कम्पनी के चल निकलने पर वे जनता को बेचे जा सकते हैं। भारतीय बैङ्कों के प्रति यह शिकायत है कि वे औद्योगिक कम्पनियों के हिस्सों की

जमानत पर रुपया उधार नहीं देते। इम्पीरियल बैंक अपने विधान के अनुसार छः महीने से अधिक के लिए रुपया उधार नहीं दे सकता और लिमिटेड कम्पनियों के उन हिस्सों को, जिनकी पूरी कीमत चुकायी जा चुकी है, वह केवल सहायक जमानत के रूप में स्वीकार कर सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत-से बैंक उद्योग-धन्धों को अल्पकालिक पूंजी उधार देते हैं, लेकिन फिर भी स्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकिङ्ग इन्क्वायरी कमेटी के पास इम्पीरियल बैंक के सम्बन्ध में यह शिकायत भी आयी थी कि उधार देते समय यह बैंक भारतीय और यूरोपियन में भेदभाव करता है और भारतीयों की अपेक्षा यूरोपियनों को आर्थिक सुविधा अधिक सुगमता से और यथेष्ट मात्रा में प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में रिपोर्ट की ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं:—

' साधारणतया यह भी विश्वास किया जाता है कि बैंक यूरोपियन फर्मों को भारतीय फर्मों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक ऋण देता है, और उन बहुत सी भारतीय कम्पनियों को, जिन्होंने कि बैंक की सहायता ली, कटु अनुभव हुआ। यह भी कहा गया है कि जब कि अभारतीय कम्पनियों को बैंक से अधिक सहायता प्राप्त होती है, भारतीय फर्मों को जो सहायता दी जाती है, वह अत्यन्त अपर्याप्त होती है और फर्म की आवश्यकता से बहुत कम होती है।"

हमारे भारतीय व्यापारिक बैंकों को भी चाहिए कि वे अपनी वर्तमान नीति का परित्याग करें और दूसरे देशों के बैंकों का इस मामले में अनुकरण करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए यथेष्ट अनुभव की आवश्यकता है, और साथ-साथ इसमें थोड़ा-सा खतरा भी है। लेकिन इसका उपाय तो यही है कि पहले-पहल केवल वे भारतीय बैंक ही, जो पूरी तरह से साधन-सम्पन्न और अनुभवी हैं, इस कार्य में और बैंकों का नेतृत्व करें। इस सम्बन्ध में भारतीय केन्द्रीय बैंकिङ्ग जांच कमेटी ने भी यह सिफारिश की थी कि रिजर्व बैंक के स्थापित होने पर इम्पीरियल बैंक को चाहिए कि वह यह कार्य अपने हाथ में ले। रिजर्व बैंक को स्थापित हुए काफी

समय हो गया है; किन्तु इम्पीरियल बैङ्क ने अभी तक इस दिशा में कोई ध्यान नहीं दिया है। अब यह अत्यन्त उपयुक्त समय है कि इम्पीरियल बैङ्क इस सम्बन्ध में आगे आकर देश के उद्योग-धन्धों को सहायता पहुंचाये। आजकल यूरोप में युद्ध चल रहा है। इस अवसर का लाभ उठाकर देश की औद्योगिक उन्नति बहुत कुछ की जा सकती है, और इम्पीरियल बैङ्क तथा अन्य बड़े-बड़े जाइण्ट स्टाक बैङ्कों का यह कर्तव्य होगा कि वे देश के उद्योग-धन्धों को पूरी-पूरी मदद करें। भारतीय बैङ्क देश के उद्योग-धन्धों को इस प्रकार से आर्थिक सहायता पहुंचावें, इसके लिए यह आवश्यक है कि सहायता देने वाले बैङ्क और सहायता लेने वाले उद्योग-धन्धे में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। बैङ्क का एक मैनेजर औद्योगिक कम्पनी के सञ्चालक-मण्डल का सदस्य नियुक्त हो जाने पर इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है, लेकिन इसके लिए यह भी आवश्यक है कि औद्योगिक कम्पनी को सारी आर्थिक सहायता एक ही बैङ्क से प्राप्त हो। बैङ्क स्थानीय सलाहकार कमेटियां भी स्थापित कर सकते हैं। इन कमेटियों का कार्य बैङ्क को औद्योगिक कम्पनियों के विषय में आवश्यक जानकारी कराना होगा, ताकि प्रत्येक बैङ्क को उस कम्पनी की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान रहे, जिसे कि वह आर्थिक सहायता प्रदान करता है।

बैङ्कों को कम्पनी की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्हें बिना जमानत भी रुपया आवश्यकतानुसार उधार देना चाहिए। बैङ्किङ्ग कमेटी की भी इस बारे में यही सिफारिश थी। इसका कारण यह है कि जब बैङ्क औद्योगिक कम्पनियों को बिना जमानत रुपया उधार देने लगेंगे तो कम्पनी की जो मिल्कियत होगी, वह कम्पनी के हिस्सेदारों के लिए सुरक्षित रह सकेगी और इस प्रकार जनता का कम्पनी में अधिक विश्वास हो सकेगा। पाश्चात्य देशों में बैङ्क व्यक्तिगत जमानत पर प्रसिद्धि वाली औद्योगिक कम्पनियों को रुपया उधार देते हैं।

भारत-सरकार को अपनी अर्थनीति में उद्योग-धन्धों के हित में परिवर्तन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यहां यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि इस परिवर्तन के साथ-साथ भारत-सरकार को और भी छोटे-मोटे सुधार करने

पड़ेंगे, जिनके सिवा केवल अर्थ-नीति में परिवर्तन करना ही काफी नहीं होगा। उदाहरण के लिए, आज गवर्नमेण्ट सिक्योरिटी पर व्याज की दर ऊंची होती है। ऐसी हालत में लोगों के रुपये को उद्योग-धन्धों की ओर आकर्षित करने के लिए इस बात की भी आवश्यकता है कि गवर्नमेण्ट सिक्योरिटी पर मिलने वाली दर कम की जाय।

औद्योगिक पूंजी सम्बन्धी देश की वर्तमान स्थिति का पूरा चित्र खींचने के लिए सरकार की ओर से उद्योग धन्धों को जो आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है उसका उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। कई प्रान्तों में प्रान्तीय सरकारों ने राज्य की ओर से उद्योग-धन्धों को सहायता देने के कानून बना दिये हैं। मद्रास, बिहार, बंगाल, पञ्जाब आदि में ये कानून मौजूद हैं। इन कानूनों के अनुसार प्रान्तीय सरकारें नये और प्रारम्भिक अवस्था में जो उद्योग-धन्धे होते हैं, उनको आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं। यह सहायता अनेकों प्रकार से दी जाती है, जैसे नकद सहायता के रूप में मशीनरी (हायर-परचेज सिस्टम पर) देकर, जमीन देकर, और कम्पनी के डिबेञ्चर खरीद कर। भारतीय बैङ्किङ्ग कमेटी की शिफारिश इस बारे में यह थी कि प्रान्तीय सरकार इस प्रकार के कानून के मातहत उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता दे, वह प्रान्तीय औद्योगिक बैङ्कों के द्वारा दी जानी चाहिए; और इस प्रकार के प्रान्तीय औद्योगिक बैङ्कों की स्थापना हरएक प्रान्त में की जाय, इस बात की सिफारिश भी कमेटी ने की थी।

देश के लिये औद्योगिक पूंजी की उचित व्यवस्था में व्यापारिक बैङ्क किस प्रकार सहायक हो सकते हैं, इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। लेकिन व्यापारिक बैङ्कों पर ही बिलकुल निर्भर रहने से औद्योगिक पूँजी का प्रश्न सर्वथा हल नहीं हो सकता। और देशों का अनुभव भी हमको यही बात बतलाता है। जापान, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में औद्योगिक पूँजी के लिए विशेष प्रकार की व्यवस्था की गयी है, और हमारे देश में भी इस प्रकार की विशेष व्यवस्था की आवश्यकता है। अतः इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैङ्किङ्ग जांच-कमेटी ने जो सिफारिश की, उसके विषय में तनिक विस्तारपूर्वक वर्णन कर देना अनुचित न होगा।

उद्योग-धन्धों को दीर्घकालिक आर्थिक सहायता देने के लिए बैङ्किङ्ग कमेटी की सिफारिश यह थी कि प्रत्येक प्रान्त में एक प्रान्तीय औद्योगिक कारपोरेशन की स्थापना की जाय। प्रान्तीय सरकार को चाहिए कि आरम्भ में कारपोरेशन की पूँजी की वह स्वयं व्यवस्था करे, और अगर आवश्यकता समझी जाय, तो यह व्यवस्था प्रान्तीय सरकार की ओर से स्थायी रूप से होनी चाहिए। प्रत्येक प्रान्तीय कारपोरेशन को अपने प्रान्त की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए इस बात का अधिकार भी होगा कि वह अन्य स्थानों में अपनी शाखायें स्थापित करे।

कारपोरेशन की शुरू में हिस्सा पूँजी कितनी हो, इस बात का निर्णय प्रान्त-विशेष की आवश्यकता और स्थिति को ध्यान में रखकर ही करना होगा। जितना सम्भव हो, पूँजी का उतना भाग हिस्सों के रूप में जनता को बेचना चाहिए, उसके बाद बचे हुए हिस्सों को प्रान्तीय सरकार को खरीद लेना चाहिए। बैङ्किङ्ग कमेटी की राय में कारपोरेशन के प्रति जनता का विश्वास उत्पन्न करने का अधिक उत्तम तरीका यही हो सकता है, न कि सरकार का हिस्सा पूँजी और उस पर मिलने वाले मुनाफे के बारे में किसी प्रकार की गारण्टी देना, जैसा कि कुछ लोगों का विचार है। डिबेञ्चर के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था उचित होगी कि कारपोरेशन हिस्सा-पूँजी के दुगुने मूल्य के डिबेञ्चर जनता को बेचने का प्रयत्न करें और सरकार डिबेञ्चर पर दिये जाने वाले सूद के सम्बन्ध में गारण्टी दे। अगर आवश्यकता समझी जाय, तो प्रान्तीय सरकार प्रकाशित डिबेञ्चर के कुछ भाग को स्वयं भी खरीद ले।

पूँजी प्राप्त करने के उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त, कारपोरेशन को जनता से दीर्घकालिक डिपाजिट भी प्राप्त करना चाहिए। ये डिपाजिट कम से कम दो साल के लिए हों। इसका एक लाभ यह भी होगा कि कारपोरेशन और व्यापारिक बैङ्कों में किसी भी प्रकार की प्रतिस्पर्धा का सवाल भी पैदा नहीं होगा। कारपोरेशन के लिए दीर्घकालिक डिपाजिट प्राप्त करना इस वास्ते भी आवश्यक है कि उसका उद्देश्य उद्योग-धन्धों को दीर्घकालिक आर्थिक सहायता प्रदान करना ही है। ऊपर जिन उपायों का हमने उल्लेख किया है, उनके द्वारा कारपोरेशन के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करना कठिन नहीं होगा।

कारपोरेशन को प्रान्तीय सरकार से पूंजी प्राप्त करने में जो सहायता मिल सकती है, उसका उल्लेख हम कर चुके हैं। इस सम्बन्ध में यहां एक बात का सङ्केत कर देना आवश्यक जान पड़ता है। जब तक कारपोरेशन के सम्बन्ध की कोई भी आर्थिक जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकार पर रहे, प्रान्तीय सरकार को यह अधिकार रहे कि कारपोरेशन के सञ्चालक-मण्डल पर सरकार की ओर से भी एक प्रतिनिधि रहे। सरकार के प्रतिनिधि को मत देने का अधिकार तो नहीं होगा; किन्तु यदि सञ्चालक-मण्डल और उसमें महत्वपूर्ण विषयों पर कुछ मतभेद हो, तो उसको यह स्वतन्त्रता रहेगी कि वह प्रान्तीय सरकार को इससे सूचित कर दे। इसके अतिरिक्त ऋण देने के सम्बन्ध में कारपोरेशन जो भी उपनियम बनावे, उनके बारे में उसे उस समय तक सरकार की अनुमति लेनी होगी, जब तक कि सरकार पर किसी प्रकार की आर्थिक जिम्मेदारी है। इन सब बातों का अर्थ इतना ही है कि जब तक सरकार कारपोरेशन के सम्बन्ध में अपने पर किसी भी प्रकार की आर्थिक जिम्मेदारी इस दृष्टि से लेती है कि कारपोरेशन के प्रति जनता का विश्वास कायम हो, सरकार को यह देखने की पूरी सुविधा रहेगी कि आर्थिक दृष्टि से कारपोरेशन कोई काम ऐसा नहीं करता, जिसके कारण उसकी आर्थिक स्थिति को किसी प्रकार से धक्का पहुँच सके।

केन्द्रीय बैङ्किग कमेटी की प्रान्तीय औद्योगिक बैङ्कों की स्थापना सम्बन्धी उक्त सिफारिशों को क्रियात्मक रूप देने की दृष्टि से सर्व प्रथम सन् १६३४ में संयुक्त प्रान्त की सरकार ने स्वर्गीय सांगमर्जी पोचखान वाला की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की थी। इस कमेटी ने जो सिफारिशें की हैं, उनका संक्षेप में उल्लेख कर देना इस दृष्टि से आवश्यक जान पड़ता है कि अन्य प्रान्तों की सरकारें भी उनसे लाभ उठा सकती हैं।

इस कमेटी की पहली सिफारिश तो यह थी कि पचास लाख रुपये की पूंजी से मिश्रित पूंजी वाले एक बैङ्क की स्थापना की जाय। प्रान्तीय सरकार को चाहिये कि प्रारम्भिक प्राप्त पूंजी पर चार प्रतिशत नफा की गारण्टी दे। और यह गारण्टी २५ वर्ष से अधिक समय के लिए नहीं दी जानी चाहिए।

बैङ्क के कार्य के सम्बन्ध में कमेटी ने यह सिफारिश की कि बैङ्क छोटे

और बड़े उद्योग धन्धों को साख की सुविधा प्रदान करे, ताकि उन उद्योगों में लगे हुए लोगों को प्रोत्साहन और सहायता मिले। यह सहायता दोनों ही प्रकार की होना आवश्यक है, दीर्घकालिक और अल्पकालिक। बैंक को ऋण अचल सम्पत्ति, चल सम्पत्ति, प्रान्तीय सरकार की जमानत अथवा बिल आव लेडिङ्ग, प्रामिसरी नोट (गवर्नमेण्ट) आदि अन्य व्यापारिक दस्तावेज के आधार पर देने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त बैंक उन कम्पनियों के, जो व्यापारिक दृष्टि से सफल होती दिखलाई पड़ें, हिस्सों में भी पूंजी लगा सकता है—यदि वे कम्पनियाँ संयुक्त प्रान्त ही में रजिस्टर की गई हों। कमेटी की यह भी सिफारिश थी कि बैंक जनता से दीर्घकालिक डिपाजिट तैयार करे और उससे हुण्डी, बिल-आव एक्सचेञ्ज, प्रामिसरी नोट भी भुनवाये जा सकें।

इसके अतिरिक्त कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि छोटे व गृह-उद्योग धन्धों को आर्थिक सहायता पहुँचाने और उनके द्वारा तैयार माल के क्रय-विक्रय सम्बन्धी सुविधा की दृष्टि से एक मिश्रित पूंजी वाली दूसरी संस्था ("The United Provinces Products Financing and Marketing Co, Ltd") स्थापित की जाय। इसकी पूंजी पांच लाख रुपया हो। प्रान्तीय सरकार इस संस्था को पांच वर्ष तक पचीस हजार रुपये वार्षिक आर्थिक सहायता दे, कमेटी की यह भी राय थी। यदि प्रान्तीय सरकार इस संस्था के कार्य से सन्तुष्ट हो, तो वह इस सहायता को पांच वर्ष तक जारी रख सकती है। कम्पनी की पूंजी जनता द्वारा ही प्राप्त की जाय। प्रान्तीय बैंक केवल उस पूंजी की जिम्मेवारी अपने पर इस रूप में ले ले कि पूंजी का वह भाग, जो जनता से प्राप्त न होगा, प्रान्तीय बैंक खरीद लेगा।

विभिन्न प्रान्तों में औद्योगिक पूंजी की सुव्यवस्था के लिए प्रान्तीय बैंकों की आवश्यकता के सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर चुके हैं। केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी की इस विषय में यह भी राय थी कि यदि केन्द्रीय सरकार आवश्यकता समझे, तो एक और अखिल भारतीय बैंक भी स्थापित किया जाये, और जब तक ऐसा कोई बैंक स्थापित नहीं हो प्रान्तीय बैंक अपनी एक केन्द्रीय संस्था स्थापित कर सकते हैं, जो अन्तर्प्रान्तीय प्रश्नों पर विचार करे।

औद्योगिक पूंजी के सम्बन्ध में हमारे देश की वर्तमान स्थिति और उसकी उन्नति के उपायों के विषय में सविस्तार विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है और बिना प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों की सहायता से यथेष्ट सफलता नहीं मिल सकती।

[विश्वामित्र : फरवरी १९४०]

: ३ :

भारतीय राजनीति की प्रमुख शक्तियां

१५ अगस्त का भारतवर्ष के इतिहास में अपना अपूर्व स्थान है। लगभग २०० वर्षों की विदेशी गुलामी का उस दिन अन्त होगा और देशवासियों को अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करने का अधिकार होगा। दूसरे शब्दों में राज-नैतिक दृष्टि से हम स्वतन्त्र होंगे। पर १५ अगस्त का महत्त्व केवल भारतवर्ष की दृष्टि से ही हो, ऐसी बात नहीं है। एक प्रकार से उसका महत्व अन्तर्राष्ट्रीय है। इस अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के एक से अधिक कारण हैं। पहली बात तो यह है कि भारत की आजादी का अपने आपसे ही अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है। विश्व की स्वतन्त्रता की शक्तियों को स्वतन्त्र भारत से पूरा बल मिलेगा यदि स्वतन्त्र भारत में प्रगतिशील शक्तियों का प्रभुत्व रहा तो। एक दूसरा कारण और भी है। भारतवर्ष ने अपनी आजादी की लड़ाई दुनियां के इतिहास में एक अपूर्व ढंग से लड़ी है। दुनियां के सामने आज एक बड़ा प्रश्न है और वह यह है कि आज के युग में सामाजिक क्रान्तियों का क्या मार्ग हो? इतिहास में आज तक जो क्रान्तियां हुई हैं उन्होंने हिंसक साधनों को अपनाया। आज के युग में जब प्रतिपक्षी की हिंसा इतनी संगठित है, जब विज्ञान हिंसा के नये नये साधनों का आविष्कार करने में इतना आगे बढ़ चुका है, यह तो असम्भव-सा है कि आम जनता अपने सामाजिक लक्ष्यों की पूर्ति हिंसा द्वारा सफलतापूर्वक कर सके। हां, मारकाट तथा अन्य हिंसक उपायों द्वारा सत्तारूढ़ शक्तियों को परेशान करते रहना दूसरी बात है। ऐसी हालत में सामाजिक गतिशीलता (Social Dynamics) की यह समस्या आज समाज के सामने मौजूद है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतवर्ष ने इस समस्या को हल करने की एक नई दिशा अवश्य सुझाई है। अस्तु, १५ अगस्त का यह भी एक बहुत बड़ा महत्व है।

यह सब होते हुए भी हमको एक बात अवश्य याद रखनी है और वह यह कि १५ अगस्त इस बात का द्योतक नहीं है कि जिस प्रकार की आजादी

हमने बराबर चाही है और जिसके लिए देश के हजारों नवयुवकों और युवतियों ने हँसते हँसते अपना सर्वस्व तक दे दिया वह हमको मिल गई है। भारतवर्ष का विभाजन हमको स्वीकार करना पड़ा है, अपनी लाचारी में। और इस प्रकार खण्डित भारत को फिर से मिलाने का एक महान् कार्य हमारे सामने है जिसको हमें पूरा करना है। देश से विदेशी हुकूमत का अन्त हो रहा है यह ठीक है पर देश का एक बहुत बड़ा हिस्सा देशी राज्यों का अभी तक ऐसा है जहां शेष भारत की तरह राजनैतिक सत्ता जनता के हाथ में नहीं आई है और मध्यकालीन सामन्तशाही के चिन्ह जहां अभी तक अवशेष हैं। इस मध्यकालीन सामन्तशाही को अन्त करके जनतन्त्र के आधार पर शासन व्यवस्था स्थापित करने का एक दूसरा महान् कार्य हमारे सामने है। और इस सबके अलावा एक सबसे बड़ा काम और है जिसके होने न होने पर ही देश की आम जनता को सच्ची सामाजिक और आर्थिक आजादी का प्राप्त होना अथवा न होना निर्भर करता है। वह काम है देश में एक सही और न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था स्थापित करने का। संक्षेप में ये तीन बड़े काम हैं जिनको सफलतापूर्वक करने की और उसके लिए आत्मोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा हमको लेनी है। इस दृष्टि से १५ अगस्त का वास्तव में महत्व इस बात में है कि हमारी आजादी की लड़ाई की एक मंजिल समाप्त होती है और एक नई मंजिल की शुरुआत होती है।

इस नई मंजिल को सफलतापूर्वक पूरी करने के लिए यह जरूरी है कि हमारे देश में जो विभिन्न शक्तियां काम कर रही हैं उनका वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करें और उनके ऐतिहासिक महत्व को समझें। यह बात हम भली प्रकार जानते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपनी सुरक्षा के लिए हमारे देश में ऐसे तत्वों और स्वार्थों को बनाये रक्खा और जन्म दिया जो राष्ट्रीयता के विरोधी रहे और जिन्होंने देश की स्वाधीनता की लड़ाई में हमेशा ही विदेशी हुकूमत का साथ दिया। राजा और नवाब जमींदार, तथा सम्प्रदायवादी लोग इस श्रेणी में खास तौर से आते हैं। पूँजीपति वर्ग की स्थिति तनिक भिन्न रही। देश में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास हो इसके लिए भी यह आवश्यक था कि भारतवर्ष से विदेशी सत्ता का अन्त हो। इसलिए इस हद तक देश के

पूँजीपति वर्ग ने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन किया। परन्तु हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के सामाजिक और आर्थिक न्याय से सम्बन्ध रखने वाले पहलू का जहां तक सवाल है यह पूंजीपति वर्ग उससे सशंक था। फिर भी चूंकि गुलाम भारत के सामने सबसे पहली समस्या राजनैतिक स्वतन्त्रता की थी, यह सम्भव हो सका कि कांग्रेस के तत्त्वाधान में सभी प्रकार के लोग, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक थे और जिनमें एक ओर किसान और मजदूर थे तो दूसरी ओर पूंजीपति भी, विदेशी हकूमत को हटाने के लिए संयुक्त मोर्चा लेते रहे। इस समय अंग्रेजी हकूमत की नीति बराबर यह रही कि देश में जो राष्ट्रीय विरोधी तत्त्व थे उनको मजबूत करना और उनकी सहायता से राष्ट्रीयता का मुकाबला करते रहना तथा उसे सफल बनाने की चेष्टा करना। बावजूद हकूमत के इन प्रयत्नों के राष्ट्रीय शक्तियों का बल बढ़ता गया और सन् १९४२ के आन्दोलन में कई कमियों के होते हुए भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर यह अंकित कर दिया कि भारतवर्ष पर हकूमत करना अब उनके लिए सम्भव नहीं होगा। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों का दबाव भी भारतवर्ष के पक्ष में पड़ रहा था। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों का आर्थिक स्वार्थ भी यह चाहता था कि उनका निर्यात व्यापार अधिक से अधिक बढ़े। भारतवर्ष से उनको बहुत मदद मिल सकती है, इस बात को वे समझते थे, पर यह उसी हालत में हो सकता था जब कि भारतवर्ष उनसे सन्तुष्ट रहे। इस दृष्टि से भी भारतवर्ष की राजनैतिक समस्या का हल करना अंग्रेजी हकूमत को आवश्यक मालूम पड़ता था। इसी का यह परिणाम था कि भारतवर्ष से समझौता करने की कोशिश शिमला सम्मेलन से ही प्रारम्भ हुई और जून ३, १९४७ के वक्तव्य के साथ उसका फैसला हुआ। १५ अगस्त को आने वाली हमारी आजादी इसी का फल है।

ब्रिटिश साम्राज्य की उक्त समझौता नीति का यदि हम गहराई से अध्ययन करें तो एक बात साफ हो जाती है। एक तरफ तो अंग्रेजी हकूमत इसके लिए तैयार थी कि भारतवर्ष पर से उनका सीधा प्रभुत्व हट जाये, दूसरी ओर वह यह चाहती रही कि यह शक्ति उन प्रगतिशील ताकतों के हाथ में न जाये जो आजादी का सच्चा अर्थ सामाजिक तथा आर्थिक आजादी में ही मानते हैं।

इस उद्देश्य की पूर्ति सीधे ढंग से नहीं की जा सकती थी। ब्रिटिश सरकार इस बात को तो समझती ही थी कि उसको सत्ता आखिरकार कांग्रेस को ही सौंपना होगा। यह ठीक है कि कांग्रेस में सब ही प्रकार के वर्ग हैं और कांग्रेस के मौजूदा नेतृत्व में भी एक विचार के ही लोग नहीं है, फिर भी आज निश्चित रूप से यह बात कहना कठिन है कि यदि कांग्रेस को अपना रास्ता साफ दिखाई पड़े तो वह देश में किस प्रकार की व्यवस्था करने को तैयार हो जायगी। जो कुछ भी हो अंग्रेजी सरकार को यह भय रहा कि यदि बिना किसी विरोध के सत्ता कांग्रेस को सौंप दी गई तो भारतवर्ष से समझौता करने का जो उनका उद्देश्य है वह सफल नहीं होगा। और उनका एकमात्र उद्देश्य यह रहा है कि भारतीय पूंजीपतियों के सहयोग और समर्थन से भारतीय जनता का आर्थिक शोषण करते रहना। वे यह तो जानते ही थे कि कांग्रेस और कांग्रेस के वर्तमान नेतृत्व में ऐसे तत्त्व तो अवश्य हैं जो ब्रिटिश हकूमत से काफी हद तक जाकर भी समझौता करने पर राजी हो जायेंगे। चाहे फिर उस समझौते के फलस्वरूप हिन्दुस्तान की आम जनता को सच्ची सामाजिक और आर्थिक आजादी मिल सके या न मिल सके। इसलिए उन्होंने यह प्रयत्न किया कि कांग्रेस के बाहर जो देश में साम्प्रदायिक लोगों तथा राजा नवाबों का गर्दीयता विरोधी दल है, उसे जीवित रखा जावे और उसकी इतनी शक्ति बनाई रखी जावे जिससे कि कांग्रेस और उसके नेतृत्व को यह डर बना रहे कि यदि वे एक दम बहुत उग्र नीति पर जोर देंगे तो देश के यह राष्ट्र विरोधी तत्त्व बहुत कुछ गड़बड़ी पैदा करेंगे, और देश में अशान्ति का वातावरण बना रहेगा। मुस्लिम लीग और रियासतों के बारे में ब्रिटिश सरकार की जो नीति रही है वह इसका उदाहरण है। पाकिस्तान का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करके उन्होंने अपने आर्थिक हितों को सुरक्षित करने का प्रयत्न किया है। जहां तक देशी रियासतों सम्बन्धी उसकी नीति का सवाल है वह बहुत ही पेचीदा रही है। सबसे पहले तो तथाकथित वैधानिक और कानूनी आधार लेकर उन्होंने सार्वभौम सत्ता का अन्त कर दिया। ५८४ रियासतों और जागीरियों को पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया। इससे प्रत्येक रियासत को भारतीय संघ से पृथक रहने का एक मिल गया और

भारतीय संघ से सौदा करने की उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई। पर वास्तव में अंग्रेज सरकार पाकिस्तान की भांति देशी राज्यों की सामन्तशाही व्यवस्था को सर्वथा स्वतन्त्र रहने देना नहीं चाहती है। क्योंकि इस प्रकार अलग अलग छोटे छोटे राज्यों को कायम रखने से तो उसका जो आर्थिक हित है वह पूरा नहीं हो सकता। वह तो यह चाहती है कि पाकिस्तान और हिन्दुस्तान दोनों में ही इस प्रकार की समाज व्यवस्था कायम रहे जिससे उसके साम्राज्यवादी आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति हो सके। पाकिस्तान को अलग करना इसलिए आवश्यक था कि एक तो राज्य कमजोर हो जाये और दूसरे उनमें साम्प्रदायिकता का विष बराबर बना रहे। सरांश यह है कि देशी राज्यों को वह सर्वथा स्वतन्त्र रहने देना नहीं चाहती थी। इसलिए हम देखते हैं कि लार्ड माउण्टबेटन ने देशी राज्यों को भारतीय उपनिवेश और भारतीय संघ में लाने का प्रयत्न किया है। और इस प्रकार एक तरफ कांग्रेस सरकार की स्वार्थ पूर्ति की है और दूसरी तरफ कांग्रेस की सहानुभूति प्राप्त की है। देशी राज्य जिन शर्तों पर भारतीय उपनिवेश में शामिल किये जा रहे हैं, जो (इंस्ट्रूमेंट आव एक्सेशन) प्रकाशित हुआ है, उससे साफ हो जाता है कि अंग्रेजी हुकूमत ने देशी राज्यों को स्वतन्त्र रहने का जो कानूनी हक दे दिया उससे उनकी राष्ट्रीय भारत से सौदा करने की शक्ति कितनी बढ़ गई और उसका उन्होंने कितना लाभ उठाया है। कैसी बात है कि आज हमारे राष्ट्रीय नेता देशी रियासतों को भारतीय संघ में शामिल कर रहे हैं। बिना यह शर्त लगाये कि वे अपने अपने राज्य में पूर्ण उत्तरदायी हुकूमत जल्दी से जल्दी कायम करेंगे जबकि हमने १९३५ के विधान का जोरदार विरोध इस आधार पर भी किया था। ब्रिटिश सरकार की समझौता नीति के उक्त विवेचन से यह साफ हो जाता है कि हिन्दुस्तान पर से अपनी राजनैतिक सत्ता हटाते समय उन्होंने यथा सम्भव इस बात की पूरी व्यवस्था कर दी है कि देश में ऐसे तत्त्व बराबर बने रहें जो उसे सामाजिक और आर्थिक आजादी के मार्ग पर आगे बढ़ने से बराबर रोकते रहें और जिनका उपयोग संकीर्ण राष्ट्रीयता की शक्तियां अधिक प्रगतिशील शक्तियों को आगे बढ़ने से रोकने में करती रहें।

अस्तु, जिस स्वतन्त्र भारत का जन्म १५ अगस्त को होने जा रहा है

उसमें कौन कौन सी प्रमुख राजनैतिक शक्तियाँ काम करेंगी यह बात साफ हो जाती है। स्वतन्त्र भारत में शक्तियों का त्रिविध संघर्ष एक प्रकार से हमको देखने को मिलेगा (१) प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जिनमें सामन्तशाही और साम्प्रदायिक तत्वों की गिनती की जायगी; (२) संकीर्ण राष्ट्रीयता की शक्तियाँ जिसमें मुख्यतः पूंजीवादी शक्तियों का समावेश होगा; और (३) प्रगतिशील सामाजिक और आर्थिक शक्तियां जिसमें देश के समाजवादी और गांधीवादी विचार के लोगों का प्रमुख स्थान होगा। प्रतिक्रियावादी शक्तियां चाहेंगी कि देश में या तो राजनैतिक प्रजातन्त्र का उदय न हो जैसा कि देशी राज्यों के सम्बन्ध में उनकी नीति से स्पष्ट है। या फिर जहां प्रजातन्त्रवाद को रोका नहीं जा सकता जैसी कि आज शेष भारत में हालत है तो वहां पूंजीवादी और संकीर्ण राष्ट्रीयता की शक्तियों से गठबन्धन करके वे अधिक प्रगतिशील शक्तियों को कुण्ठित करने का प्रयत्न करेंगी। इस लक्ष्य में संकीर्ण राष्ट्रीयता की शक्तियां भी उनसे सहयोग करने को तत्पर हो जायेंगी और उस सहयोग के बदले में वे जहां राजनैतिक प्रजातन्त्र की अभी तक स्थापना नहीं हुई है (जैसे कि देशी रियासतों में) वहां उसे स्थापित करने में वहां की जन शक्ति का कोई वास्तविक समर्थन नहीं करेंगी। इधर शेष भारत में यही संकीर्ण राष्ट्रीयता की शक्तियां यदि प्रगतिशील शक्तियों का दबाव बहुत बढ़ा तो उसे रोकने के लिए प्रतिक्रियावादी शक्तियों के सहयोग से देश में अधिनायकत्व स्थापित करने की ओर आगे बढ़ेंगी। नए शासन विधान में गवर्नर को जो विशेष अधिकार दिये जा रहे हैं उससे इस प्रकार की शंका की पुष्टि होती है जो साम्प्रदायिक और सामन्तशाही शक्तियां हैं वे धर्म और संस्कृति के नाम पर आम जनता को भुलावे में डालने का प्रयत्न करेंगी और देश के विभाजन से और पाकिस्तान में अल्पसंख्यकों के प्रति यदि अनुचित व्यवहार किया गया तो उससे इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बल मिलेगा। देशी राज्यों के प्रजामण्डलों आदि के विरुद्ध जागीरदार और साम्प्रदायिक संस्थाएं जो संयुक्त मोर्चा खड़ा बना रही हैं वह भी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि ये शक्तियां जनता के सच्चे हित के विरुद्ध काम करने वाली हैं। सारांश यह है कि प्रतिक्रियावादी और संकीर्ण राष्ट्रीयता

की शक्तियों का एक संयुक्त मोर्चा आजाद भारत में होगा जो प्रगतिशील शक्तियों के हाथ में शक्ति न जाए इसका बराबर प्रयत्न करेंगे। देश की प्रगतिशील शक्तियों का, जिसमें किसान और मजदूरों का प्राधान्य होगा, एकमात्र कर्त्तव्य होगा जनता को सही सामाजिक आर्थिक विचारधारा के आधार पर जागृत और संगठित करना ताकि अन्त में शक्ति उनके हाथों में आ जाए और उसका आम जनता की भलाई के लिये उपयोग हो।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि इन प्रगतिशील शक्तियों का संगठन कौन-सा होगा। क्या हमारी आज की कांग्रेस और आज के प्रजामंडल इस कार्य को कर सकेंगे अथवा हमें नए संगठन कायम करने होंगे? जहां तक कांग्रेस का सवाल है, हमें इस तथ्य को तो मानना होगा कि उसमें संकीर्ण राष्ट्रीयता के तत्त्वों का यथेष्ट स्थान है और कांग्रेस का वर्तमान नेतृत्व भी किसी एक सकारात्मक राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक विचारधारा की एकसूत्रता से बँधा हुआ नहीं है। यह ठीक है कि कांग्रेस के प्रस्तावों में उत्तरोत्तर प्रगतिशीलता हमको दिखाई पड़ती है। हाल ही में कांग्रेस के प्रधान मन्त्री श्री शंकरराव देव का कांग्रेस के भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ है वह इसी बात का द्योतक है। परन्तु इसके विपरीत अब तक का कांग्रेसी मंत्रीमंडलों का जो कार्य रहा है वह उत्साहवर्द्धक नहीं कहा जा सकता। अब तक की असंतोषजनक स्थिति का एक कारण देश में विदेशी साम्राज्य का प्रभुत्व और और उसके विरुद्ध एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा खड़ा करने की आवश्यकता बताई जाती रही है। अब देश इस बन्धन से मुक्त हो रहा है। यदि कांग्रेस भविष्य में प्रगतिशील शक्तियों का संगठन बन कर ही रहना चाहती है तो यह अनिवार्य है कि वह उसका लक्ष्य एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करना है यह स्पष्ट घोषणा करे, उसके अनुसार निश्चित कार्यक्रम बनाए, और उस कार्यक्रम को जब उसके हाथ में राजनैतिक सत्ता आ गई है बिना किसी हिचकिचाहट के अमल में लाना आरम्भ कर दे। इसका लाजमी नतीजा यह होगा कि जो पूँजीपति वर्ग है उसका कांग्रेस में कोई स्थान नहीं रह जायगा। अगर कांग्रेस समय की इस मांग के अनुसार अपने आप में परिवर्तन न कर सकी तो जो प्रगतिशील

तत्त्व उसमें है उनके लिए कांग्रेस में कोई स्थान नहीं रहेगा और उनको अपना कांग्रेस से पृथक संगठन करना होगा। यह स्थिति देश के लिए शुभ नहीं होगी। एक बात तो यह होगी कि कांग्रेस के नाम के साथ जो इतिहास और प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है उसका लाभ देश की प्रगतिशील शक्तियों को नहीं मिल सकेगा। इसके अलावा यह हमारे देश का बड़ा भारी दुर्भाग्य है कि वामपक्षी (लेफ्टिस्ट) विचार के लोगों में एकता का बड़ा अभाव है। एक प्रकार से दुनिया का वामपक्ष का इतिहास भी इस बात की पुष्टि करता है। निकट भविष्य में यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि देश के वामपक्षीय लोग किसी एक नई संस्था के और एक नेतृत्व के तत्वावधान में अपने को संगठित कर लें। और इसमें सिद्धान्त भेद उतना बड़ा कारण नहीं जान पड़ता जितना व्यक्तिगत आकांक्षा का प्रश्न। इसका बुरा परिणाम यह आया है और भविष्य में भी आयेगा कि वामपक्ष के लोगों की चोट करने की शक्ति बहुत कम हो जायेगी। कांग्रेस आज भी ऐसी संस्था है जिसके तत्वावधान में सब प्रगतिशील तत्वों का संगठित हो जाना अधिक सरल है। कांग्रेस ऐसा कर सकेगी या नहीं यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, कांग्रेस के नेतृत्व और उसके कार्यकर्ताओं—दोनों ही में दोनों प्रकार के तत्त्व हैं। और दोनों ही प्रकार की संभावनायें हैं। समय ही बता सकेगा कि क्या होता है। बाकी आज भी इस बात की आवश्यकता कम नहीं है कि कांग्रेस की एकता बनी रहे और समय की मांग के अनुसार उसमें परिवर्तन हो। और सब प्रगतिशील शक्तियों का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे इसको सम्भव बनाने की भरसक चेष्टा करें।

जहां तक रियासतों के जन संगठनों का सवाल है वे अब तक कांग्रेस के नेतृत्व में चले हैं। आज जहां एक ओर कांग्रेस का राजनैतिक ध्येय किसी हद तक पूरा हो गया है, देशी राज्यों की स्थिति में कोई मौलिक अन्तर नहीं आया है। कांग्रेस की नीति इस समय राजाओं के बारे में परिस्थितिवश ही नहीं वरन् नर्म हो रही है। देशी राज्यों की जनता इससे सन्तुष्ट नहीं है पर फिर भी अनेकों कारणों से वह काफी हद तक शान्त है। इन कारणों में देशी राज्यों में स्वतन्त्र नेतृत्व का अभाव कांग्रेस के मार्ग में इस नाजुक समय में अड़चन उत्पन्न न करने

की उसकी इच्छा, देशी राज्यों की स्वयं जनता का पिछड़ा हुआ होना, और उनमें जागृति और संगठन की कमी प्रमुख है।

प्रजामण्डलों का काम जब तक पूर्ण उत्तरदायी शासन प्राप्त नहीं हो जाता पूरा नहीं होता और इसलिए समस्त क्रान्तिकारी तत्त्वों के लिए उनमें स्थान है। और वे ही उनकी एकमात्र संस्था है। परन्तु इन प्रजामण्डलों में भी किसी हद तक एक आन्तरिक संघर्ष आ सकता है। उनमें एक ऐसा सुधारवादी वर्ग उत्पन्न हो सकता है और आज कहीं कहीं उत्पन्न होता हुआ वह स्पष्ट दिखाई पड़ता है जो देशी राज्यों में राजनैतिक सुधारों के नाम पर जो कुछ थोड़ा बहुत समय समय पर हो उसी से सन्तोष मानता रहे, चूंकि शेष भारत में प्रजातन्त्र स्थापित हो जायगा और देशी राज्य भी भारतीय संघ में शामिल हो रहे हैं, इसलिए बिना किसी संघर्ष के ही कुछ समय में धीरे धीरे उत्तरदायी शासन कायम हो जायेगा, ऐसी अपनी मान्यता बना लें, और जो उक्त कारणों से जनसम्पर्क जन जागृति और जन संगठन के महत्त्व को भुला दें। रियासतों की प्रगतिशील शक्तियों का यह काम है कि वे अपने जन संगठनों को ऐसे सुधारवादी वर्ग के अभाव और प्रभुत्व से सर्वथा मुक्त रखें और अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए जन सम्पर्क, जन जागृति और जन संगठन के कार्य में किसी प्रकार की ढिलाई न आने दें ताकि आवश्यकता पड़ने पर हम सफलतापूर्वक मौजूदा सत्ता से संघर्ष भी ले सकें, देशी राज्यों में काम करने वाले लोगों को एक बात का खास तौर से ध्यान रखना चाहिए कि यदि हम ऊपर बताई सतर्कता रख लें तो प्रजामण्डलों को हम न केवल राजनैतिक बल्कि हमारी सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति का साधन भी बना सकते हैं। उनकी इस ऐतिहासिक सम्भावना को दृष्टि से नहीं रखना हमारी बड़ी भूल होगी। इसी वजह से प्रजामण्डलों के अन्तर्गत समाजवादी दलों का निर्माण करने की बात करना सही है। जहां सच्चे और परिपक्व कार्यकर्ता हैं वहां सारे प्रजामण्डलों को ही प्रगतिशील शक्तियों के प्रभुत्व में लाया जा सकता है। यह समझने की आवश्यकता है कि प्रजामंडलों में यह ऐतिहासिक समता है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि अपने कार्य और लगन तथा बुद्धिमत्ता से हम इस बात का ध्यान रखें और इसका प्रयत्न करें कि हमारे प्रजामण्डल सुधारवादी और विधानवादी मनोवृत्ति के लोगों के नेतृत्व से बचाये जायें और क्रान्तिकारी तत्त्व अपने हाथ में उनका नेतृत्व ले लें। यही हमारी आज की सही नीति हो सकती है।

[वनस्थली : ८ अगस्त, १९४७]

: ४ :

गांधीवाद और समाजवाद

(तत्त्व दर्शन और व्यावहारिक स्वरूप)

आज हमारे देश में दो प्रकार की प्रमुख विचारधारायें कार्य कर रही हैं। एक विचारधारा वह है, जिसको हम 'गांधीवाद' के नाम से जानते हैं। इसके प्रवर्तक महात्मा गांधी हैं। महात्मा गांधी के विचारों और कार्यपद्धति का हमारे देश के जीवन पर जितना अमिट प्रभाव पड़ा है उसके सम्बन्ध में कोई दो मत नहीं हो सकते। राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक अङ्ग और प्रत्यङ्ग पर आज गांधीजी के विचारों और उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है क्या राजनीति और क्या सामाजिक और आर्थिक जीवन, कोई भी क्षेत्र आज उनके विचारों से अछूता नहीं है। 'गांधीवाद' एक सर्वाङ्गी विचारधारा है, जिसने समूचे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित किया है। दूसरी विचारधारा का सम्बन्ध राष्ट्रीय जीवन के राजनीतिक और आर्थिक पहलू से ही है। यह समाजवादी विचारधारा, जिसको राष्ट्रीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय सबसे पहले पण्डित जवाहरलाल नेहरू को ही है। वैसे तो समाजवादी विचार रखने वाले लोगों के एक से अधिक दल हमारे देश में इस समय मौजूद हैं—कांग्रेस समाजवादी दल साम्यवादी दल और रायवादी दल। पर साम्यवादी और रायवादी दलों को इस समय हम छोड़ देंगे; क्योंकि इन दलों का राष्ट्र की वर्तमान राजनीति से तात्त्विक मतभेद है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारतवर्ष ने अपने उत्थान के लिए अहिंसा का मार्ग चुना है और उस मार्ग पर चल कर ही राष्ट्रीय जीवन अपनी वर्तमान संगठित और शक्तिशाली अवस्था को पहुँचा है। गत २० वर्षों के अनुभव से यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि अहिंसा का ही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जिस पर चल कर न केवल हम अपने राष्ट्र का ही उत्थान कर सकते हैं, बल्कि संसार व्यापी मौजूदा हिंसा और पशुबल से मानव-सभ्यता को मुक्त करके उसके भावी विकास में भी हम सहायक हो सकते

हैं। यह तो मान लेना पड़ेगा कि विश्व के इतिहास में इस प्रकार का यह प्रथम प्रयोग है, जो आज हम भारतवासियों ने करने का साहस किया है। हमारा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि जो लोग अहिंसा के महत्त्व को समझने में अपने आपको अयोग्य पाते हैं, वे भारतवर्ष की लड़ाई को तो कम से कम किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ा सकते और न उसको आगे बढ़ाने में सहायक ही हो सकते हैं। अस्तु, व्यावहारिक दृष्टि से देश को स्वतन्त्रता की ओर ले जाने वाली शक्तियों का विचार और विश्लेषण करते समय हम उन शक्तियों को आसानी से छोड़ सकते हैं, जिनकी अहिंसा में श्रद्धा नहीं है। इस प्रकार देश में केवल दो बड़ी अहिंसक विचारधारायें ही ऐसी रह जाती हैं, जिनके सम्बन्ध में हमको विचार करना होगा। एक है गांधीजी की विचारधारा, और दूसरी है कांग्रेस समाजवादी दल की विचारधारा, जिसको हम आगे इन पंक्तियों में समाजवादी विचारधारा के नाम से ही लिखेंगे।

गांधीवाद का दार्शनिक आधार—गांधीवाद को समझाने के लिए उसके दार्शनिक आधार को समझ लेना आवश्यक है। गांधीजी एक आस्तिक पुरुष हैं। उनकी ईश्वर की सत्ता में जीवित श्रद्धा है। संसार के प्रत्येक व्यापार और वर्तन में उनको उस ईश्वर की सत्ता का ही आभास मिलता है। उनकी दृष्टि में यही चिर-सत्य है। और इसी सत्य का अपने जीवन में दर्शन करना एकमात्र लक्ष्य है। उनकी अपनी ईश्वर की व्याख्या भी यही है। उन्होंने लिखा है, 'सत्य ही ईश्वर है।' सत्य से भिन्न किसी अन्य ईश्वर का उनके लिए कोई अस्तित्व नहीं। यही कारण है कि वह अपने आपको एक विनम्र सत्य का शोधक मानते हैं। जीवन में सत्य की खोज करने के सिलसिले में ही उनके जीवन के समस्त अन्य व्यापारों का समावेश हो जाता है। अगर वह एक राजनीतिज्ञ हैं, तो भी इसी अर्थ में, और समाज-सुधारक हैं, तो भी इसी सम्बन्ध में। सत्य की खोज उनके जीवन का वह अटूट सूत्र है, जो उनके समस्त कार्यों में देख पड़ता है। वह केन्द्र है, जिसके चारों ओर उनका जीवन चक्र घूमता है। यदि संसार के समस्त प्राणीमात्र में उस ईश्वर की सत्ता मौजूद है, तो जो व्यक्ति इस महान् सत्य को पहचानता है और उसकी प्राप्ति ही अपने जीवन का

एकमात्र लक्ष्य मानता है, उसके लिए प्राणीमात्र में समानता और बन्धुत्व का अनुभव करना आवश्यक है ही। एक दूसरे का अन्ततोगत्वा और आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य परिणाम है। इसी में से महात्मा गांधी की राजनीति और समाज सेवा का उदय होता है। यदि मनुष्य और मनुष्य की समानता और बन्धुत्व एक चिर-सत्य है, तो एक के द्वारा दूसरे का शोषण चाहे फिर उस शोषण का रूप राजनीतिक हो अथवा आर्थिक और सामाजिक, उतना ही बड़ा असत्य है। और जो सत्य का शोधक है, उसके लिए इस प्रकार का शोषण त्याज्य है। किन्तु सत्य अगर एक क्रियात्मक वस्तु है, और वह है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, तो सत्य के शोधक के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है कि वह स्वयं किसी का शोषण न करे; किन्तु जहां कहीं भी उसे उस शोषण का, जो सबसे बड़ी असत शक्ति है, अस्तित्व दिखाई पड़े, वह उसका प्रतिकार भी करे। हां, प्रतिकार करते समय प्रतिकार करने वाले को अपनी शक्ति का अवश्य ही ध्यान रखना होगा। प्रतिकार के लिए अगर कोई बाधा है, जिसको पार करना आवश्यक है, तो वह है अपनी शक्ति की, अथवा दूसरे शब्दों में यों कहें कि अपनी स्वयं की पात्रता की। वह शक्ति अथवा पात्रता उसी अनुपात में प्राप्त होगी, जिस हद तक प्रतिकारकर्ता ने अपने जीवन से शोषण को निकाल दिया है। और अपने आपको शोषण-मुक्त करना एकमात्र साध्य किया नहीं है। उसका सम्बन्ध आत्म संयम से है। मनुष्य अपने आपको जितना ऊंचा उठा सकेगा, उतना ही अधिक वह अपने जीवन से शोषण को निकाल सकेगा। अतः जो सत्य का शोधक है, उसके लिए शोषण का विरोधी होना और उसका प्रतिकार करना आवश्यक है, और इस प्रतिकार के लिए अपने आपकी आत्म-शुद्धि शक्ति-सञ्चय का एकमात्र मार्ग है। जितनी अधिक शक्ति प्रतिकार करने वाले के पास होगी, उतनी ही अधिक उसको सफलता भी प्राप्त होगी। और अगर उसका प्रतिकार अपनी शक्ति के बाहर होगा, तो वह अपनी ही हानि उस प्रतिकार के द्वारा कर लेगा। यही कारण है कि गांधीजी एक सत्य-शोधक के नाते एक महान् क्रान्तिकारी भी हुए और शोषण का प्रतिकार करना सत्य की खोज करने का एक उपाय-मात्र हो गया। अपनी अर्थात् प्रतिकार करने वाले की

आत्म-शुद्धि पर उनका इतना अधिक जोर देना भी स्वयं सिद्ध है। अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने में जिस हद तक मनुष्य सफल होगा, उसी हद तक उसके जीवन में उपर्युक्त संयम और नियमितता भी आ सकेगी। महात्मा गांधी के जीवन को समझने की यही एक कुञ्जी है।

सत्याग्रह : गांधी-दर्शन का क्रियात्मक रूप—अब यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि सत्य के शोधक का यह कर्त्तव्य है कि वह न केवल अपने-आपको शोषण मुक्त करे; किन्तु जहां भी उसे शोषण दृष्टिगोचर हो, उसका भी प्रतिकार करे, तो उसका यह प्रतिकार कैसा होना चाहिए। प्रतिकार का रूप क्या हो, दूसरे शब्दों में यही हमारे सामने प्रश्न है। प्रतिकार का रूप उसके उद्गम और उद्देश्य के अनुरूप ही हो सकता है। उससे भिन्न नहीं। सत्यशोधक प्राणी-मात्र में ईश्वररूपी सत्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इसी कारण से वह प्राणीमात्र में समानता और बन्धुत्व के भाव को देखता है और उसे जागृत करना चाहता है। समानता और बन्धुत्व के आधार पर किया जाने वाला प्रतिकार प्रेमपूर्ण के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? दूसरा सवाल है प्रतिकार के उद्देश्य का। अगर सत्य का शोधक इस बात में जीवित श्रद्धा रखता है कि प्रत्येक प्राणी ईश्वररूपी सत्य विद्यमान है, तो उसके द्वारा किये जाने वाले प्रतिकार का उद्देश्य भी केवल यही हो सकता है कि वह अपने विरोधी (जिसका वह प्रेमपूर्ण प्रतिकार करने जा रहा है) में उस सत्य को उदय करे और उसको सत्य दर्शन कराये। क्योंकि अगर सत्य का अस्तित्व होते हुए भी कोई प्राणी उसे नहीं पहचानता है और अपने जीवन में असत्य व्यवहार करता है, जो सब प्रकार के शोषण के मूल में है तो उसका कारण उसका अज्ञान और मोह ही हो सकता है। उसके इस अज्ञान और मोह का नाश करना और उसमें सुप्त सत् शक्ति को जागृत करना ही सत्यशोधी के प्रतिकार का एकमात्र लक्ष्य हो सकता है। यह तभी सम्भव है, जब उस व्यक्ति के प्रति, जिसके विरोध में हम प्रतिकार करने जा रहे हैं, हमारे हृदय में प्रेम हो और साथ ही साथ हम स्वयं उस प्रतिकार के करने के योग्य हों। दूसरे के अज्ञान

का नाश करने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्वयं ज्ञानवान हों। अगर हम दूसरों में सत्य जागृत करना अपना उद्देश्य मानते हैं, तो पहले स्वयं अपने में सत्य जागृत करना आवश्यक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि जब तक कोई व्यक्ति स्वयं अपने जीवन में पूर्ण सत्य का दर्शन नहीं कर लेता, उसको दूसरों में सत्य जागृत करने के लिए प्रतिकार करने का अधिकार नहीं है। वास्तव में तो सत्य-शोधक को अपने जीवन में ही सत्य के दर्शन करने के लिए दूसरों का प्रतिकार भी करना पड़ता है और इस प्रकार अपने सत्य-दर्शन के सिलसिले में ही वह अनायास और सहज ही में दूसरे को सत्य-दर्शन करवाने का कारण भी बन सकता है और बनता है। दोनों क्रियायें साथ साथ ही चलती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सत्य-शोधक के प्रतिकार का उद्गम और उद्देश्य दोनों ही प्रेम में हैं। अस्तु, उसका प्रतिकार अहिंसात्मक के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। प्रेम ही का दूसरा नाम अहिंसा है। प्रेम के बिना अहिंसा-वृत्ति का उदय हो ही नहीं सकता। इसी अहिंसात्मक प्रतिकार का नाम सत्याग्रह (सत्य का आग्रह) है; क्योंकि सत्य के आग्रह का ही वह परिणाम है।

सत्याग्रह का परिणाम हृदय-परिवर्तन—अहिंसात्मक प्रतिकार अर्थात सत्याग्रह का लक्ष्य यदि विरोधी के हृदय की अज्ञानता को मिटा कर उसमें सुप्त सत् शक्ति को जागृत करना है, तो इसके लिए आवश्यक है कि प्रतिकार करने वाला अपने प्रतिकार से विरोधी के हृदय में अपने प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उत्पन्नकरे और उसे भयमुक्त करे। इसके लिए आवश्यक है कि सत्याग्रही विरोधी के प्रति अपने व्यवहार में निन्दा, स्वार्थपरायणता और छल-कपट तथा धौंस-धमकी का त्याग करे और इनके स्थान में सच्चाई, आत्म-बलिदान, विरोधी-हितेच्छा और न्यायनिष्ठा आदि गुणों का अनुसरण करे। ऐसी दशा में विरोधी की परेशानी और बेबसी से लाभ उठाने का प्रश्न पैदा ही नहीं होता और न उसे अपने सङ्गठन और शक्ति से भयभीत करने का। इस वास्ते सत्याग्रही की सङ्गठित शक्ति का प्रदर्शन भी इस प्रकार का नहीं हो सकता, जिसका ध्येय विरोधी को भयभीत करना हो। उस सङ्गठित शक्ति का तो एकमात्र उपयोग

अपनी आत्म बलिदान की मात्रा को अधिक दृढ़ बनाना और उसके द्वारा आस-पास के वातावरण को अधिकाधिक अहिंसक बनाना ही हो सकता है। इस दृष्टि से वे तमाम सामूहिक प्रदर्शन, जिनका असर विरोधी की परेशानी और भय को बढ़ाना हो सत्याग्रह के लिए त्याज्य है। इस प्रकार सत्याग्रही अपने अहिंसात्मक प्रतिकार द्वारा अपने विरोधी की श्रद्धा और प्रेम का पात्र बनेगा और उसके उस अज्ञान का नाश करने में सफल होगा, जिसके वशीभूत होने के कारण वह असत् कर्म करता रहा है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम होगा उसके हृदय में सुप्त सत् शक्ति का जागृत होना। इस सत् शक्ति के जागृत होने पर वह अपनी भूल को स्वयं स्वीकार करेगा और सत्याग्रही की बात को इच्छापूर्वक मंजूर करेगा। इस प्रकार सत्याग्रह का अन्त होगा, विरोधी का हृदय परिवर्तन होगा और दोनों ही पक्ष के लिए वह सत्याग्रह हितकर सिद्ध होगा। सत्याग्रह के इस प्रकार विरोधी के पूर्ण हृदय-परिवर्तन में अन्त होने के बाद दोनों पक्षों में प्रेम और सद्भाव बढ़ेगा और सत्याग्रह के परिणामस्वरूप जो स्थिति उत्पन्न हुई है, उसकी रक्षा करना और उसको स्थायी बनाना दोनों ही पक्ष अपना कर्त्तव्य समझेंगे। यहां पर बाद में षड्यन्त्र रच कर अथवा अवसर पाकर उस स्थिति को बदलने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। किन्तु अगर सत्याग्रही की बात उसके विरोधी ने भय अथवा अपनी लाचारी और बेबसी के कारण भयभीत होकर तात्कालिक आपत्ति से बचने के लिए ही मान ली है, तो वह अवश्य ही उचित अवसर देख कर फिर से अपनी खोई हुई स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। यह तभी होगा, जबकि सत्याग्रही का सत्याग्रह वास्तव में सत्याग्रह के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं, बल्कि उसके सर्वथा विपरीत ही चलाया गया हो। ऐसी हालत में उसको सत्याग्रह का नाम भी नहीं दिया जा सकता। उपर्युक्त दोनों अवस्थाएं सीमा (Extreme) की हैं; किन्तु इसके बीच की भी एक अवस्था हो सकती है, जब कि विरोधी सत्याग्रही की बात को स्वीकार करते समय दो बातों से प्रभावित होता है—एक तो उस पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि सत्याग्रही की बात ही सत्य और न्यायोचित है और इस हद तक उसके हृदय में पहले की अपेक्षा अधिक सत्य जाग्रत होता

है और उसका वास्तविक रूप से हृदय परिवर्तन होता है। दूसरे वह सत्याग्रही की एक निष्ठा और सत्य पर अड़े रहने से इतना प्रभावित होता है कि वह यह समझने लगता है कि उसकी बात को स्वीकार कर लेना ही हितकर है। इस स्थिति में उस पर दूसरी बात का जितना अधिक प्रभाव होगा, वह उसी हद तक भविष्य में खोई हुई स्थिति को फिर से प्राप्त करने के अवसर की तलाश में रहेगा और उसका लाभ उठाना चाहेगा। इस स्थिति का कारण यही हो सकता है कि विरोधी के हृदय-परिवर्तन के लिए जितनी अहिंसक वृत्ति की आवश्यकता थी, वह सत्याग्रही में मौजूद नहीं थी। अस्तु, सत्याग्रही अपनी पराजय का कारण अपने ही में देखेगा, अपने विरोधी में नहीं।

महात्मा गांधी के विचारों का जो विवेचन हमने अब तक किया है, उसके आधार पर हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं—

(१) ईश्वर का समस्त प्राणीमात्र में अस्तित्व पाया जाता है और वही एकमात्र निरपेक्ष सत्य है, जिसकी शोध करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।

(२) जो मनुष्य इस एकमात्र सत्य को पहचानता है, वह प्राणीमात्र के प्रति समानता और बन्धुत्व के भाव का अनुभव करेगा और अपने जीवन से ही शोषण का अन्त न करेगा; किन्तु अपनी शक्ति को ध्यान में रखते हुए जहां कहीं उसे शोषण दिखाई पड़ेगा; उसका प्रतिकार करेगा और वह प्रतिकार अहिंसात्मक होगा। वास्तव में अपने जीवन में सत्य की खोज करने के प्रयत्न में ही उसे इस प्रकार का अहिंसात्मक प्रतिकार (सत्याग्रह) करना होगा।

(३) इस अहिंसात्मक प्रतिकार का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति होगा और उसका परिणाम होगा विरोधी के हृदय से अज्ञान का नाश करके सत्य को उसमें जाग्रत करना, ताकि वह सत्याग्रही की बात को अपनी इच्छा से स्वीकार कर ले। इसी का नाम है विरोधी का हृदय-परिवर्तन करना।

अस्तु, गांधीजी की सारी विचारधारा का आधार है ईश्वररूपी एकमात्र सत्य में अगाध श्रद्धा और इसी को हम आदर्शवाद के नाम से जानते हैं। किन्तु गांधीजी के आदर्शवाद की एक विशेषता है और वह है उसकी सक्रियता। अब तक दुनिया में जितने सच्चे आदर्शवादी हुए हैं, उनमें इस सक्रियता का

अभाव रहा है। उनकी अहिंसा की भावना ने उनको कर्मक्षेत्र के प्रति उदासीन बना दिया। और जिन्होंने बुराई को ललकार करके कर्मक्षेत्र में उसका प्रतिकार किया, उनको हिंसा अपनानी पड़ी है। यही कारण है कि अब तक इतिहास में 'सन्त' और 'वीर' पुरुष अलग-अलग हुए हैं। किन्तु गांधीजी की विशेषता इसी में है कि उन्होंने अहिंसा को कायम रखते हुए असत् और बुराई के प्रतिकार का मार्ग ढूंढ निकाला है। वह 'सन्त' और 'वीर', एक ही साथ दोनों हैं।

समाजवाद का दार्शनिक आधार—अब हम समाजवाद के दर्शन के सम्बन्ध में विचार करेंगे। समाजवाद (मार्क्सवाद) ईश्वर जैसी किसी चीज के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में पदार्थ (matter) ही एकमात्र वास्तविक चीज है। चेतना (spirit) इसी पदार्थ (matter) का एक गुण-मात्र है, जो उसके विकास की एक विशेष अवस्था में उसमें प्रकट होता है। मनुष्य के जो विचार बनते हैं, वह उसके आसपास की भौतिक परिस्थितियों की प्रतिछाया मात्र है। पदार्थ से स्वतन्त्र चेतना का, विचार जिसकी एक क्रियामात्र है, कोई अस्तित्व नहीं। इस बात का सबसे बड़ा उदाहरण मनुष्य स्वयं ही है। मनुष्य में जो चेतना विद्यमान है, उसके लिए मस्तिष्क का होना अनिवार्य है। बिना मस्तिष्क के चैतन्य की कल्पना नहीं की जा सकती। और जिसे हम मस्तिष्क कहते हैं, वह पदार्थ का ही एक विशेष रूप है, जो पदार्थ अपने विकास की एक विशेष अवस्था में ही ग्रहण करता है। अस्तु, समाजवाद का दर्शन आदर्शवाद नहीं है, वह पदार्थवाद है। एक बात और है—वह पदार्थवाद वैज्ञानिक है, अवैज्ञानिक नहीं। वैज्ञानिक पदार्थवाद का अर्थ यह है कि पदार्थ का जो उत्तरोत्तर विकास होता है, वह ऊटपटांग ढङ्ग से न होकर एक निश्चित प्रणाली के अनुसार होता है। इसी को हम द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical matrialism) के नाम से जानते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक दार्शनिक प्रणाली है, जिसके अनुसार भौतिक जगत के रहने वाले प्राणियों का विकास होता है। यह दृश्य जगत्, जो भौतिक पदार्थ का ही एक रूपान्तर-मात्र है, किन नियमों के अधीन विकास करता है, इसकी व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह मानता है कि यह जगत् परिवर्तनशील है। अब सवाल यह

पैदा होता है कि आखिर यह परिवर्तन कैसे होता है? जो आदर्शवादी दर्शन में विश्वास करते हैं, वे इसका उत्तर इस प्रकार देंगे कि जगत् का सारा व्यापार और उसमें पाया जाने वाला निरन्तर परिवर्तन एक स्वतन्त्र और अलौकिक शक्ति (ईश्वर) की लीला अथवा माया का परिणाम मात्र है। किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस उत्तर को स्वीकार नहीं करता। वह किसी ऐसी अलौकिक सत्ता के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी मान्यता तो यह है कि विकास की प्रगति में हर क्षण आन्तरिक असङ्गतियां (Inner Contradictions) उत्पन्न होती रहती हैं और जब यह असङ्गतियां चरम सीमा पर पहुंच जाती हैं, तो वे एक गुणात्मक परिवर्तन (Qualitative Change) द्वारा नये रूप को जन्म देती हैं। गुणात्मक परिवर्तन से क्या अर्थ है, इसको तनिक अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यह एक उदाहरण लेकर भले प्रकार किया जा सकेगा। जब हम पानी को गर्म करते हैं, तो हम देखते हैं कि पानी के भीतर गर्मी की मात्रा यद्यपि बराबर बढ़ती जाती है, फिर भी एक अवस्था विशेष तक उसमें उबाल नहीं आता। इस अवस्था तक गर्मी की मात्रा में जो परिवर्तन या वृद्धि होती रहती है, इसको हम संख्यात्मक परिवर्तन (quantitative change) कहेंगे; क्योंकि पानी में गर्मी की मात्रा बढ़ने पर भी वह पानी की शकल में ही रहता है। उसका रूप पानी से बदल कर और कुछ नहीं हो जाता, अर्थात् पानी के गुण में कोई परिवर्तन नहीं होता। पर एक विशेष अवस्था को पहुंच कर पानी में उबाल आने लगता है और वह पानी की शकल में न रह कर अब भाप का रूप धारण कर लेता है। इस रूप परिवर्तन को हम गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। इस प्रकार विकास के क्रम में उत्पन्न आन्तरिक असङ्गतियां बराबर बढ़ती जाती हैं और एक समय उनकी वृद्धि की मात्रा इस सीमा को पहुंच जाती है कि वे एक गुणात्मक परिवर्तन के द्वारा पूर्व रूप को बिलकुल बदल देती हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमें विकास के इसी नियम को सिखाता है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सामाजिक रूप का नाम ही ऐतिहासिक भौतिकवाद है। ऐतिहासिक भौतिकवाद हमको यह बतलाता है कि

समाज का रूपान्तर भी विशेष सामाजिक व्यवस्था की प्रगति के दौरान में उसमें उत्पन्न आन्तरिक असङ्गतियों का ही परिणाम है। जब आन्तरिक असङ्गतियाँ अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं, तो एक गुणात्मक परिवर्तन होता है और इस अवस्था में पुराने समाज का रूपान्तर क्रमिक सुधार के ज़रिये न होकर आकस्मिक वेग से अर्थात् क्रान्ति के द्वारा होता है। अतः मानव-समाज के विकास में क्रान्ति का होना अनिवार्य है।

क्रान्ति : समाजवादी दर्शन का क्रियात्मक रूप—अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस क्रान्ति का रूप और साधन क्या होना चाहिए। क्रान्ति का आधार समाज में अन्तर्निहित वर्ग सङ्घर्ष (Class struggle) पर कायम है। अतः इस प्रश्न को ठीक ठीक समझने के लिए वर्ग-सङ्घर्ष और उसकी उत्पत्ति के कारणों के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लेना आवश्यक होगा। इस विषय में सबसे पहली बात हमारे जान लेने की यह है कि किसी विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का आधार क्या होता है। समाजवादी विचारधारा के अनुसार 'समाज का आर्थिक ढांचा ही वह आधार या बुनियाद है' जिस पर सारी समाज व्यवस्था, जिसमें 'मनुष्य के अन्य कार्यक्षेत्रों की प्रणालियों—राजनीति, आचार नीति, साहित्य, कानून आदि'—का भी समावेश हो जाता है, खड़ी होती है। और इस आर्थिक ढांचे के आधार होते हैं वे उत्पादन-सम्बन्ध जो उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था के अनुरूप उस समय समाज में व्याप्त उत्पादन-व्यवस्था में लगे हुए मनुष्य स्थापित करते हैं। ये उत्पादन-सम्बन्ध मनुष्यों की स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर नहीं होते ये तो उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास की अवस्था-विशेष के अनुरूप ही निश्चित होते हैं। इन उत्पादन-सम्बन्धों के योग से समाज का आर्थिक ढांचा बनता है, जो स्वयं में वास्तविक आधार होता है सारी समाज-व्यवस्था का, जिसके अन्तर्गत राजनीतिक और वैधानिक ढांचों का समावेश भी हो जाता है। इसी को मानव समाज के विकास के इतिहास की भौतिक व्याख्या कहते हैं और मानव-समाज का यह विकास उसी द्वन्द्वात्मक ढङ्ग से होता है, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। यहीं पर सामाजिक वर्गों का सवाल पैदा होता है।

समाजवाद का यह कहना है कि मानव-समाज की आदिम अवस्था को छोड़ कर, प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था में दो आधारभूत वर्ग यानी बुनियादी आर्थिक श्रेणियां मौजूद रही हैं। इस प्रकार दासता-प्रथा में स्वामी और दास, सामन्तवादी प्रथा में सामन्त और कृषक दास और वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपति और मजदूरों के वर्ग पाये जाते हैं। इन दोनों वर्गों अथवा श्रेणियों के हित परस्पर विरोधी होते हैं और प्रभुत्वशाली वर्ग दूसरे वर्ग को दास बना कर उसकी श्रम-शक्ति का शोषण करके अपने लिए जीवन की सुविधायें प्राप्त करता है। इस प्रकार स्वामी दास का, सामन्त कृषक दास का और पूंजीपति मजदूर का शोषण करता है; क्योंकि उनके वर्ग-हित परस्पर विरोधी हैं और एक का शोषण ही दूसरे का जीवन-आधार है। जब यह वर्ग-शोषण अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है, तो क्रान्ति के लिए आवश्यक भूमिका तैयार होती है। वर्ग-शोषण अपनी चरम सीमा को उसी दशा में पहुँचता है, जब उत्पादन-शक्तियों का विकास उस अवस्था-विशेष को पहुँच जाता है, जहां प्रचलित उत्पादन-सम्बन्धों के रहते हुए उन उत्पादन-शक्तियों का मानव-समाज के हित के लिए पूरा-पूरा उपयोग न हो सकता हो। उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादन-शक्तियों में उत्पन्न असङ्गतियां ही इस प्रकार अपनी चरम सीमा पर पहुँच कर क्रान्ति का कारण बनती हैं। इस क्रान्ति का उद्देश्य होता है, प्रचलित उत्पादन-संबन्धों का नाश कर उनके स्थान में उत्पादन-शक्तियों के अनुरूप नवीन उत्पादन-संबन्धों को स्थापित करना। चूंकि ये नवीन उत्पादन-सम्बन्ध उस वर्ग के हित में होंगे, जो अब तक शोषित होता रहा है, इस वास्ते वह वर्ग क्रान्ति का नेतृत्व करेगा और चूंकि मौजूदा उत्पादन-सम्बन्ध शोषक वर्ग के हित में है, इस वास्ते उनकी रक्षा में वह वर्ग क्रान्ति का विरोधी होगा। किन्तु अन्त में उसके विरोध के बावजूद क्रान्ति सफल होगी और उत्पादन-शक्तियों और नवीन उत्पादन-सम्बन्धों में एक नया साम्य स्थापित होगा। जो वर्ग अब तक शोषित था, वह अब शोषक का स्थान ग्रहण कर लेगा और इस प्रकार फिर आन्तरिक असङ्गतियों का जन्म होगा, जो अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर एक नई क्रान्ति का कारण बनेगी और इस प्रकार वर्ग-सङ्घर्ष द्वारा मानव-समाज का उत्तरोत्तर विकास होगा

रहेगा। समाजवादी क्रान्ति के बाद ही जिस समाज की स्थापना होगी, वह वर्ग-हीन समाज होगा, जिसमें पहली बार शोषक और शोषित वर्गों का अन्त होगा। समाजवादी क्रान्ति के बाद ही मनुष्य सामाजिक प्रगति के उपर्युक्त नियमों की दासता से मुक्त होकर स्वाधीनता के राज्य में प्रवेश करेगा, जहां वह स्वयं सामाजिक विकास का नियन्त्रण कर सकेगा। समाजवाद इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्येक मनुष्य का दृष्टिकोण अपने वर्गहित से प्रभावित रहता है और इस वास्ते निरपेक्ष सत्य जैसी कोई वस्तु है, इसे समाजवाद स्वीकार नहीं करता। उसकी दृष्टि में तो सत्य वर्ग सत्य है और इस वास्ते वह सापेक्षिक है। इससे यह भी स्पष्ट है कि हृदय-परिवर्तन-जैसी चीज के लिए समाजवाद में कोई स्थान नहीं है।

शान्त क्रान्ति—कांग्रेस समाजवादी दल ने देश और काल की परिस्थितियों-विशेष को ध्यान में रख कर देश की आजादी के लिए शान्त और उचित उपायों के मार्ग को अपनाया है। वे विरोधी को बलपूर्वक परास्त करना तो आवश्यक समझते हैं; किन्तु उनका विश्वास है कि बिना हिंसक बल का प्रयोग किये ही वे ऐसा करने में सफल हो सकेंगे। अतः उनकी अहिंसा और गांधीजी की अहिंसा में जमीन-आसमान का भेद है। गांधीजी विरोधी का हृदय-परिवर्तन करके उसे स्वयं अपनी भूल स्वीकार करवाने की आशा से सत्याग्रह करते हैं, जबकि समाजवादी इस बात में विश्वास नहीं करते कि वे अपने विरोधी का हृदय परिवर्तन कर सकेंगे। वे तो उसकी इच्छा के विरुद्ध भी अपनी सफलता प्राप्त करना आवश्यक समझते हैं। इस वास्ते उनकी और गांधीजी की युद्ध-नीति में भी बहुत भेद होगा। जहां गांधीजी हर समय इस बात का प्रयत्न करेंगे कि वह अपने विरोधी की श्रद्धा के पात्र बनें और उसे भय-मुक्त करें, वहां समाजवादी का एकमात्र लक्ष्य किसी प्रकार अपने विरोधी पर हावी हो जाने का प्रयत्न करना होगा। और इस भेद का कारण दोनों के दर्शन की भिन्नता है। गांधीजी के सत्याग्रह का उद्देश्य विरोधी के हृदय में सत् शक्ति को जाग्रत करना होता है, ताकि वह अपने अज्ञान को हटा सके; क्योंकि वह सत्य को निरपेक्ष मानते हैं, जिसका अंश सब प्राणीमात्र में विद्यमान है। इसके विपरीत समाजवादी की दृष्टि में निरपेक्ष सत्य-जैसी कोई वस्तु नहीं, वह तो वर्ग-सत्य को ही स्वीकार करता है और इस वास्ते एक वर्ग के लिए दूसरे के सत्य को अपनाने का प्रश्न ही नहीं आ सकता। अस्तु एक वर्ग-सत्य दूसरे वर्ग-सत्य की इच्छा के विपरीत ही स्थापित किया जा सकता है, यह समाजवादी विचारधारा का मूल तत्त्व है।

जनतंत्र—जीवन का एक संस्कृत मार्ग

२६ जनवरी, १९५० के दिन से स्वतन्त्र भारतवर्ष का नया विधान हो गया है। हमारे राष्ट्र के जीवन में ही नहीं समस्त संसार के लिए भी यह अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। उस दिन से भारतवर्ष एक स्वतन्त्र जनतन्त्रीय राष्ट्र हुआ है और देश में जनतन्त्र के मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर एक न्याय-युक्त, स्वतन्त्र, और सबके लिए समान अवसर देने वाले ऐसे समाज के निर्माण करने की शपथ भारतवर्ष की जनता ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ली है जिसमें परस्पर भ्रातृभाव की भावना पूर्ण रूप से व्याप्त है। हम भारत-वासियों का यह परम कर्तव्य है कि अपने इस महान दायित्व को हम अच्छी तरह से समझें और उसके अनुरूप अपने कर्त्तव्य पालन की प्रतिज्ञा करें।

सबसे आधारभूत बात यह है कि हमने अपनी नई समाज रचना के लिए जनतन्त्र का व्यापक सिद्धान्त स्वीकार किया है। अस्तु, इस बात की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम जनतन्त्र के व्यापक अर्थ को भली प्रकार समझें।

जनतन्त्र के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। अलग अलग लेखकों ने जनतन्त्र की व्याख्या अलग अलग ढंग से की है पर वे सब एक बात पर सहमत हैं कि जनतन्त्र का मूल सिद्धान्त जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनता की सत्ता ही सर्वोपरि है, इस तथ्य को स्वीकार करना है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि जनतन्त्रीय समाज वह है जिसकी सारी व्यवस्था आम जनता की स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार चलती है। इस सिद्धान्त को भली प्रकार समझने के लिए कुछ बातों को विस्तारपूर्वक लिखना आवश्यक है।

सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि जनतन्त्र वास्तव में एक आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त है। यह मनुष्य की महानता को स्वीकार करता है और प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास का समान महत्त्व है, यह इसकी आधार-भूत मान्यता है। यहां एक बात साफ कर देना जरूरी है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास के साधन प्राप्त होने चाहिए, इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि सब व्यक्तियों की क्षमता और योग्यता भी समान हो सकती है। व्यक्ति और व्यक्ति का यह भेद तो जनतन्त्र में भी रहेगा क्योंकि इसका आधार

प्रकृतिदत्त शक्तियों तथा गुणों में व्यक्ति की असमानता है। अस्तु, जनतन्त्रीय समाज में जिसकी हम अपेक्षा करते हैं वह कोई ऐसी यन्त्रवत समानता नहीं है जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं होगा। अन्य विभिन्नताओं के साथ साथ व्यक्तियों की योग्यताओं और क्षमताओं में भी अन्तर रहेगा। इस अन्तर का परिणाम भी हमें समाज में कई प्रकार की असमानताओं में देखने को मिलेगा। जो व्यक्ति अधिक योग्य है उनको समाज में अधिक दायित्वपूर्ण कार्य और स्थान मिलेगा। इसी के साथ उनकी अधिक प्रतिष्ठा भी समाज में होगी। दायित्व और प्रतिष्ठा के इस अन्तर के साथ साथ एक सीमा तक साधन-सुविधाओं की असमानता का होना भी अनिवार्य होगा। सारांश यह है कि पूर्णतया जनतन्त्रीय समाज में भी जहां एक मनुष्य का सैद्धान्तिक और आदर्श की दृष्टि से उतना ही महत्व माना जायेगा जितना किसी दूसरे मनुष्य का और सबको विकास का समान रूप से अवसर देने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायेगा। वहां व्यवहार में तो पद, प्रतिष्ठा और एक हद तक आर्थिक स्थिति की दृष्टि से व्यक्ति और व्यक्ति में अन्तर और असमानता रहेगी। जहां तक आर्थिक असमानता का सम्बन्ध है यह ठीक है कि उसे कम से कम करने का प्रयत्न करना आवश्यक है क्योंकि उसका सम्बन्ध आम जनता के विकास के लिए पर्याप्त साधन जुटाने से आता है। जिस समाज में आर्थिक असमानता जितनी अधिक होगी उसमें जनता की आर्थिक स्थिति अपेक्षाकृत उतनी ही गिरी हुई होगी और उसका असर उसके विकास पर भी पड़ेगा। जनतन्त्र में समानता का क्या स्थान है इस बारे में स्पष्ट विचारधारा की आज बड़ी आवश्यकता है। प्रायः हम इस तरह के विचार जन साधारण में पाते हैं कि जनतन्त्र का अर्थ है सब प्रकार की समानता। यह विचार बड़ा भ्रमोत्पादक है। यह सही है कि जनतन्त्र एक आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त है और इस दृष्टि से मनुष्य और मनुष्य में समानता के सिद्धान्त को वह स्वीकार करता है और समस्त जीवन के प्रति समानता के इस दृष्टिकोण का वह समर्थक है, पर फिर भी वास्तविक जीवन में असमानता रहेगी। इस व्यावहारिक तथ्य को जनतन्त्र का आदर्श अस्वीकार नहीं कर सकता।

जनतन्त्र का एक दूसरा सर्व मान्य सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति और व्यक्ति समूह और समूह तथा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच में यदि कोई मतभेद है तो उसे आपसी विचार विनिमय और तर्क वितर्क से शान्तिपूर्वक सुलझाना चाहिये। इसीलिए यह कहा जाता है कि जनतन्त्रीय समाज वह है जिसमें आपसी विरोध को वैधानिक तरीकों से मिटाने के लिए पूरा पूरा अवसर है और जो आपसी मतभेद इसी प्रकार दूर करता है। इस पृष्ठभूमि में जनतन्त्र न केवल एक आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त है, बल्कि वह जीवन का एक संस्कृत मार्ग (सिविलाइज्ड मेथड) और जीवन का एक ऐसा प्रकार (वे ऑव लाइफ) है जहां आपसी मतभेदों को शान्तिपूर्वक हल करने का उसूल सर्वमान्य है। इस विषय में एक बात की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। समाज में जिन लोगों ने क्रान्ति चाही और जो क्रान्ति के अग्रदूत रहे, उन्होंने जनतन्त्र के इस सिद्धान्त को नहीं माना। यहां तक कि क्रान्ति का अर्थ ही हम हिंसक उपायों द्वारा किये जाने वाले सामाजिक परिवर्तन से लगाने लगे। इसका कारण यह था कि जब समाज में आधारभूत परिवर्तन चाहने वाले पक्ष को अपने विचारों को प्रचारित करने का, समाज की वर्तमान व्यवस्था के कारण पर्याप्त अवसर न मिला या जब समाज में जनता की सर्वोच्च सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया गया, तो अपने लक्ष्य पूर्ति के लिए गुप्त संगठन और हिंसात्मक क्रान्ति का मार्ग अपनाना पड़ा। इन क्रान्तिकारी नेताओं ने जनतन्त्र के मार्ग की आलोचना की और उसे प्रतिक्रियावादियों का एक अस्त्र बताया। सामाजिक जीवन के विकास की यह एक आवश्यक समस्या थी। इस देश का यह सौभाग्य था कि हमारे राष्ट्र पिता पू० महात्मा गांधी ने अहिंसक सत्याग्रह का एक ऐसा अपूर्व क्रान्ति का मार्ग संसार के सामने रखा जिसमें एक ओर जनतन्त्र के सिद्धान्त की रक्षा है तो दूसरी ओर वैधानिक मार्ग की असफलता का उपाय। इस प्रकार महात्मा गांधी ने सामाजिक गतिशीलता की इस जटिल समस्या को, जनतन्त्र की मर्यादा के अन्दर रहते हुए ही हल करने का रास्ता हमें सुझाया। इस मार्ग पर दुनिया कितनी चलेगी और भविष्य में इसका किस प्रकार विकास होगा यह कहना आज सम्भव नहीं। जनतन्त्र में मान्यता रखने

वाले समाज को इस मार्ग का पूरा पूरा परीक्षण और प्रयोग करना चाहिए और साथ में यह भी समझाना चाहिये कि अत्यन्त असाधारण अवस्था में ही, जब समाज में स्वतन्त्र विचार और व्यवहार के लिए उचित मर्यादा में रहते हुए भी गुंजाइश न हो और जनता की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार न किया जाता हो, इस मार्ग को अपनाने का प्रश्न आ सकता है। और जो लोग हिंसा के मार्ग का भी अनुसरण करना अनुचित नहीं मानते और साथ में जनतन्त्र के प्रति भी श्रद्धा रखते हैं उनको तो जनतन्त्र के वैधानिक मार्ग को छोड़ने के पहले अत्यधिक सावधानी बरतनी चाहिये। सारांश यह है कि जनतन्त्र का सामान्य सिद्धांत तो यही है कि हम अपने मतभेदों को शान्तिपूर्वक आपसी विचार विनिमय से ही तय करें।

जनतन्त्र के सम्बन्ध में तीसरा उल्लेखनीय सिद्धान्त यह है कि जनतन्त्र एक विशिष्ट समाज-व्यवस्था भी है जिसमें उपरोक्त जनतन्त्रीय सिद्धांतों को अधिक से अधिक व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया गया हो। यदि मनुष्य और मनुष्य की समानता के आदर्श को हम स्वीकार करते हैं और यह चाहते हैं कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को विकास का सामान और पूरा अवसर मिले तो हमें यह देखना होगा कि हमारे समाज का संगठन इस प्रकार का है कि उक्त आदर्श पालन किया जा सकता है। आज यह बात सर्व विदित है कि समाज की अर्थ व्यवस्था जब तक न्यायोचित आधार पर संगठित नहीं होती और समाज से आर्थिक शोषण का अन्त नहीं होता, तब तक वास्तविक जनतन्त्र की स्थापना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार और बातें भी हैं। शिक्षा को ही लीजिये। जनतन्त्रीय समाज में हर व्यक्ति को उसकी रुचि और क्षमता के अनुसार शिक्षा का पूरा पूरा अवसर मिलना चाहिए। सामाजिक व्यवहार और प्रथाएं ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य और मनुष्य में ऊंच नीच का भाव न हो। हमारे देश में छूआछूत की प्रथा जनतन्त्र के सर्वथा विरुद्ध है और यही कारण है कि नये विधान में इस प्रथा को कानूनन अपराध घोषित कर दिया गया है। सारांश यह है कि जनतन्त्रीय समाज के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है कि उसके राज्य और सरकार का संगठन जनतन्त्रीय आधार पर हो। पर इस बात की भी

आवश्यकता है कि उसका आर्थिक संगठन तथा अन्य सामाजिक व्यवहार भी पूर्णतया जनतन्त्र के सिद्धांतों पर आधारित और संचालित हो। इतना ही नहीं जनतन्त्र तो एक क्रियाशील आदर्श है। अस्तु, जनतन्त्र के समर्थकों का यह भी कर्त्तव्य है कि यदि कोई समाज जनतन्त्रीय आधार पर संगठित नहीं है तो उस आधार पर उसे संगठित करने के लिए व्यावहारिक कदम उठाये। इसका अर्थ यह हुआ कि जनतन्त्र केवल एक न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के आदर्श को सिद्धान्त से ही स्वीकार नहीं करता वरन् उस आदर्श तक पहुंचने के लिए उपयुक्त सामाजिक कार्यक्रम का अनुसरण करना भी उसकी सीमा में आता है। अस्तु, जनतन्त्र एक सामाजिक आदर्श के साथ साथ उस आदर्श तक पहुँचने का एक सामाजिक कार्यक्रम भी है।

जनतंत्र के सम्बन्ध में जो कुछ अभी तक लिखा जा चुका है उसको ध्यान में रखते हुए हम जनतंत्र की व्यापक परिभाषा इन शब्दों में कर सकते हैं, "जनतंत्र एक अध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्त है, जीवन का एक संस्कृत मार्ग और एक प्रगतिशील सामाजिक आदर्श है।" दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि जनतंत्र जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण, सामाजिक व्यवहार का एक प्रकार, और सामाजिक जीवन का एक विशिष्ट कार्य क्रम है। अंग्रेजी में भाषान्तर इस प्रकार होगा।

Democracy is spiritual and moral in principle, a civilized method, and a social objective. In other words Democracy is an attitude of mind, a way of social behaviour and a programme of social action.

जनतंत्र के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे एक बात स्पष्ट होती है और वह यह कि जनतंत्रीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति को कई प्रकार के अधिकार उस समाज के सदस्य होने के नाते प्राप्त होते हैं। भारतीय विधान में, जो जन तंत्र के सिद्धान्त के आधार पर बनाया गया है, इन अधिकारों की ओर स्पष्ट संकेत है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और भ्रातृभाव के जिन सिद्धान्तों का भारतीय विधान में उल्लेख है और सामाजिक नीति संबंधी जिन

आधार भूत बातों का उसमें समावेश है उन सब का अर्थ भी यही है कि स्वतन्त्र और जनतंत्रीय भारत वर्ष में प्रत्येक नागरिक को अमुक अमुक अधिकार प्राप्त है। अब यहाँ पर एक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता है। प्रश्न यह है कि जनतंत्रीय समाज में नागरिक को जो अधिकार होने चाहिए उन अधिकारों की पूर्ति करने का दायित्व किसका है? और उस दायित्व को पूरा करने की सबसे बुनियादी शर्त क्या है? जहाँ तक दायित्व का प्रश्न है यह बात सब खूब समझते हैं कि जनता को जनतंत्रीय अधिकारों से सम्पन्न करने का दायित्व अथवा कर्तव्य सरकार का है। यही कारण है कि आज प्रत्येक व्यक्ति अपने अभाव अभियोगों की पूर्ति के लिये सरकार की ओर देखता है और यदि सरकार उसका संतोष नहीं कर पाती है तो वह सरकार के प्रति अपना असंतोष प्रकट करता है। सोचने का यह तरीका हमारे देश में इस हद तक बढ़ा हुआ आज मालूम पड़ता है कि स्वतन्त्रता और जनतंत्र के नाम पर हम उचित अनुचित का ध्यान किये बिना अपने व्यक्ति गत अथवा पारिवारिक संकीर्ण तथा एकांगी हित को दृष्टि में रखते हुए सरकार से सब प्रकार की आशाएँ करते हैं। क्या यह दृष्टिकोण सही है? क्या सरकार का यह दायित्व है कि सब लोगों के अधिकार पूर्ति की वह व्यवस्था करे। एक प्रकार से यह ठीक है कि सरकार का यह दायित्व है। पर इस दायित्व का आधार और उसकी मर्यादा समझने की अत्यन्त आवश्यकता है। सरकार का दायित्व इन अधिकारों की व्यवस्था करना इसलिए है कि सरकार या व्यापक अर्थ में राज्य समाज की प्रतिनिधि संस्था है और समाज के कर्तव्यों का पालन करना उसका भी कर्त्तव्य है। समाज में राज्य के अतिरिक्त और भी संस्थाएं होती हैं जिनका उद्देश्य और कर्त्तव्य भी समाज के कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। पर इन संस्थाओं में राज्य सर्वोपरि है और उसका कर्त्तव्य क्षेत्र सर्व व्यापी है और साथ ही साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए उसके पास विशिष्ट साधन भी हैं। सारांश यह है कि आधुनिक राज्य के जो भी कर्त्तव्य आज स्वीकार किये जाते हैं। वे वास्तव में समाज के कर्त्तव्य हैं और राज्य पर उन कर्त्तव्यों के पालन करने का दायित्व इस लिए आता है कि राज्य समाज की सर्वोपरि संस्था है। जब हम यह कहते

हैं कि वास्तव में जो राज्य के कर्त्तव्य माने जाते हैं वे प्रथमतः समाज के कर्त्तव्य हैं तो राज्य के कर्तव्यों के बारे में एक नया पहलू हमारे सामने आता है। ऐसा पहलू जिसकी ओर हमारा ध्यान साधारणतया नहीं जाता। ठीक यहीं राज्य के कर्त्तव्य पालन की मर्यादा का सवाल पैदा होता है जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। इस विषय पर थोड़ा विस्तार से लिखना आवश्यक मालूम होता है।

जब हम समाज के कर्त्तव्यों की बात करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि यह समाज का काम है कि उसके नागरिकों, सदस्यों को समस्त जनतन्त्रीय अधिकार प्राप्त हों तो हमें यह सोचना पड़ता है कि आखिरकार समाज में और उसके सदस्यों में अन्तर क्या है? हमारी इस बात का वास्तव में क्या रहस्य है कि समाज का यह दायित्व है कि वह अपने सदस्यों के अधिकारों की पूरी २ व्यवस्था करे? समाज और समाज के सदस्य क्या दो अलग अलग वस्तु हैं? यदि हम इन प्रश्नों पर थोड़ी गहराई से विचार करें तो हम देखेंगे कि समाज और समाज के सदस्य यों ऊपर से एक ही मालूम होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। जब हम समाज के सदस्यों की बात करते हैं तो हमारी दृष्टि अलग अलग व्यक्तियों पर होती है। जब हम समाज का जिक्र करते हैं तो हमारी दृष्टि अलग अलग व्यक्तियों पर न होकर सारे समूह पर, जो अपने आप में एक संपूर्ण और संगठित इकाई है होती है। इन दोनों दृष्टियों का अन्तर कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन मर्यादित है जबकि समाज के जीवन की ऐसी कोई मर्यादा नहीं है, वह तो शाश्वत है। इसी प्रकार जब हम व्यक्तियों की अलग अलग दृष्टि से सोचते हैं तो हमें उनके अधिकारों अथवा हितों में विरोध और संघर्ष मालूम पड़ सकता है। परन्तु समाज की दृष्टि से विचार करने पर इस विरोध के लिए स्थान नहीं रहता। जहां सब व्यक्तियों के अधिकारों और हितों का समन्वय होता है उसी में समाज का हित है। सारांश यह है कि “समाज और समाज के सदस्य” में दृष्टि भेद है। “समाज” में सम्पूर्ण दृष्टि है और “समाज के सदस्यों” में खण्डित दृष्टि है। इसमें कोई शंका नहीं कि “संपूर्ण” का अस्तित्व उसके “खंडों” में है पर “खंड” अपनी संहति और एकता [illegible]

का परित्याग करके व्यवहार करें तभी वे "संपूर्ण" का निर्माण करते हैं। अस्तु, जब हम यह कहते हैं कि जनतन्त्रीय समाज के सदस्य का अमुक अधिकार है और समाज का यह दायित्व है कि वह उस अधिकार की रक्षा करे तो हमारा वास्तव में तात्पर्य यह है कि व्यक्तिशः जिस चीज की हम मांग करते हैं संपूर्ण के एक अंग की दृष्टि से उस मांग की हमें ही पूर्ति करना है। दूसरे शब्दों में यदि समाज के सदस्य के नाते हम अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते तो समाज हमारे अधिकारों की रक्षा और व्यवस्था नहीं कर सकेगा। यदि किसी समाज के सदस्य यह चाहते हैं कि समाज उनकी सुरक्षा की व्यवस्था करे तो इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति शान्तिप्रिय हो। जिस हद तक व्यक्तिशः हम इन कर्त्तव्य का पालन करेंगे अन्ततोगत्वा उसी हद तक समाज हमारी सुरक्षा की सफलता के साथ व्यवस्था कर सकेगा। इसी प्रकार यदि हम चाहते हैं कि हमारे जीवन का स्तर ऊंचा हो और हमारी आवश्यकताओं की भली प्रकार पूर्ति हो तो इसके लिए आवश्यक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार अधिक उत्पादन करे। यह ठीक है कि समाज की व्यवस्था कैसी है और किन सिद्धान्तों पर आधारित है इसका भी बड़ा महत्व है और व्यक्तिशः लोग अपने कर्त्तव्यों का कहां तक पालन करते हैं इस बात का समाज के संगठन को न्याययुक्त बनाने के लिए भी व्यक्तिशः आचरण का आधार भूतमहत्व है। अस्तु, इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी जनतन्त्रीय और स्वतन्त्र समाज का यह लक्षण है कि उस समाज के सदस्यों को विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। इन अधिकारों का अन्तिम ध्येय व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूरा पूरा अवसर देना है। व्यक्तिशः हम अपने इन अधिकारों की पूर्ति की अपेक्षा समाज और समाज की सर्वोपरि संस्था होने के नाते राज्य से रखते हैं। पर वास्तव में बात यह है कि समाज और राज्य हमारी इस अपेक्षा की पूर्ति उसी हद तक कर सकते हैं जिस हद तक समाज के सदस्यों की हैसियत से हम अलग अलग अथवा समूह रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। तात्पर्य यह है कि अधिकार की पूर्ति के लिए यह अनिवार्य है कि पहले हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। कर्त्तव्य के आधार

पर ही अधिकार की इस रत खड़ी की जा सकती है। समाज और राज्य से जो हम मांग करते हैं और जो अपेक्षाएं जनतन्त्र के नाम पर रखते हैं उनकी भी यही मर्यादा स्पष्ट है। जिस सीमा तक हम समाज के सदस्य के रूप में समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे उसी सीमा तक समाज हमारे अधिकारों की रक्षा कर सकेगा। दूसरे शब्दों में समाज की व्यक्तियों के लिए कितना क्या करने की सामर्थ्य है इसका आधार व्यक्तियों की समाज के प्रति कितनी कर्त्तव्य भावना है, इस पर है। अस्तु, जनतन्त्रीय समाज और राज्य से यह आशा रखना कि वे अपने नागरिकों के अधिकारों की उचित व्यवस्था करेंगे, ठीक होते हुए भी समाज और राज्य की उक्त मर्यादा को नहीं भूला जा सकता। जो समाज केवल अधिकारों की बात करें पर अधिकारों के पहले जो कर्त्तव्य पालन की आधारभूत शर्त है उसकी ओर उसका कोई ध्यान ही नहीं हो तो ऐसे समाज में अधिकार की कभी उचित व्यवस्था नहीं हो सकती। जनतन्त्र के मूल आधार इस अकाट्य सत्य को समझना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे देश में जनतन्त्र का उदय हुआ है। स्वतन्त्र भारत की नींव जनतन्त्र के आधार पर डाली गई है। हम एक ऐसे न्याय युक्त स्वतन्त्र और समान समाज की रचना करना चाहते हैं जहां परस्पर का भ्रातृ-भाव हो और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार विकास का पूरा पूरा अवसर मिले। पर यह सब तभी हो सकता है कि कर्त्तव्य के महत्व को हम एक राष्ट्र की हैसियत से समझें। आज इस रचनात्मक दृष्टिकोण का हमारे देश में बड़ा अभाव है। हम में से प्रत्येक अपने अमर्यादित अधिकारों की बात करता है और उनके पूरा न होने पर दूसरों की आलोचना करता है तथा समाज में असन्तोष का कारण बनता है। परन्तु इसके विपरीत कितने लोग ऐसे हैं जो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों की बात को भी इसी चिन्ता के साथ सोचते हैं। हमारे देश की आज यह एक आधारभूत कमी है। जब तक हम इस कमी को नहीं पहचानेंगे और ईमानदारी से उसे दूर नहीं करते तब तक हमारे राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल नहीं माना जा सकता और जिस नये भारत का हम निर्माण करना चाहते हैं वह सम्भव नहीं हो सकता। भारत के नव-निर्माण के इस प्रारम्भिक काल में

प्रत्येक भारतवासी का यह कर्त्तव्य है कि वह इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें और उसका उचित उत्तर अपने आचरण से दे। इस देश का भविष्य और इसकी भावी प्रगति सब से अधिक यदि किसी बात पर निर्भर है तो वह इस बात पर कि हम यह समझें कि अधिकार प्राप्ति का आधार कर्त्तव्य पालन है" इस मूल मन्त्र को निरंतर याद रखने की हमारे देश को आज सब से